[1995] 1 उम॰ नि॰ प॰ 1

रघुनाथ राव गणपतराव

बनाम

भारत संघ

और

श्रीकान्त दत्त नरसिंहाराजा वाडियार, मैसूर

बनाम

भारत संघ

4 फरवरी, 1993

मुख्य न्यायमूर्ति एल॰ एम॰ शर्मा, न्यायमूर्ति एस॰ रत्नावेल पांडियन, न्यायमूर्ति एस॰ मोहन, न्यायमूर्ति बी॰ पी॰ जीवन रेड्डी और न्यायमूर्ति एस॰ पी॰ भरूचा

संविधान (छब्बीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 — विधिमान्यता — सपठित संविधान, 1950 — अनुच्छेद 291, 362, 363-क और 366(22) और 368 — अनुच्छेद 291 और 362 का लोप करके, अनुच्छेद 363-क अंतःस्थापित करके और अनुच्छेद 366(22) प्रतिस्थापित करके भारतीय राज्यों के तत्कालीन शासकों की निजी थैलियों, व्यक्तिगत अधिकारों, विशेषाधिकारों और मान्यताओं का समाप्त करना — विधिमान्यता — यह संशोधन संविधान के मूलभूत ढांचे के प्रतिकूल नहीं है और इसलिए विधिमान्य है — संविधान की पहचान या स्वरूप में इससे कोई परिवर्तन होने का प्रश्न नहीं है।

भारतीय संविधान, 1950 — अनुच्छेद 368 — संविधान का संशोधन करने की शक्ति — क्षेत्र — इस शक्ति का प्रयोग करने का ढंग — संशोधन करने की शक्ति सर्वांगीण है इसमें मूल अधिकारों से सम्बद्ध अनुच्छेदों सहित विभिन्न अनुच्छेदों में जोड़ने, परिवर्तन करने या उनका लोप करने की शक्ति सम्मिलित है।

संविधान (छब्बीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 — संविधान के अखण्ड भाग पर प्रभाव पड़ना संविधान के मूलभूत ढांचे पर प्रभाव डालने के समान नहीं हैं।

संविधान, 1950 — अनुच्छेद 368 — संविधान का मूलभूत ढांचा — संविधान का समग्र भाग नहीं है। "समग्र" (इंटीग्रल) से कोई समष्टि या किसी समष्टि की पूर्णता के आवश्यक अंग अभिप्रेत हैं।

संविधान (छब्बीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 — यह अभिनिर्धारित किया गया कि अनुच्छेद 14, 19(1)(च) (जैसा कि वह अपने संशोधन के पूर्व था), अनुच्छेद 19(1)(छ), 21, 31(1) और (2) के प्रतिकूल नहीं है।

संविधान (छब्बीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 — उद्देशिका और अनुच्छेद 14 और 51(ग) — भारत के तत्कालीन शासकों को, जो एक भिन्न वर्ग विरचित करते थे, सत्यनिष्ठ संधि बाध्यता के विरुद्ध जो अनुच्छेद 14 और 51(ग) में यथापरिलक्षित मूलभूत ढांचे के प्रतिकूल थी, भारत के शेष नागरिक वर्ग के समान बरतने के आधार पर आक्षेपित किया जाना — आक्षेप कायम न रखे जाने योग्य अभिनिर्धारित — यह "भाईचारा" लाने के लिए जो "उद्देशिका" के उद्देश्यों में से एक है, एक उपाय है।

संविधान (छब्बीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 — निजी थैली को समाप्त करने के आधार पर जो मुआवजे के लिए वचन-भंग के समान है, जिससे संविधान के मूलभूत ढांचे पर प्रभाव पड़ा था, आक्षेपित किया जाना—यह आक्षेप कायम न रखे जाने योग्य अभिनिर्धारित किया गया।

संविधान (छब्बीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971— शासकों को उनकी निजी थैलियों से वंचित करने के लिए, संसद् द्वारा लिए गए कदम को अनैतिकता के एक घृणित निष्कर्ष के आधार पर, जो संविधान के भाव और तत्व के विरुद्ध तथा संसद् की संशोधन शक्ति से परे है, आक्षेपित करने की छूट नहीं है।

न्यायशास्त्र—विधि और नैतिकता—विधि का अर्थान्वयन नैतिकता के आधार पर नहीं किया जा सकता—न्यायालय विधानमण्डल की नैतिकता के साथ सम्बद्ध नहीं है।

इन दोनों रिट याचिकाओं में 1971 के संविधान (26वां संशोधन) अधिनियम की सांविधानिक विधिमान्यता को अन्य आधारों के साथ-साथ इस आधार पर प्रश्नगत किया गया है कि यह अधिनियम भारत के संविधान के मूल ढांचे (स्वरूप) और सारभूत लक्षणों का अतिक्रमण करता है और इसलिए संविधान के अनुच्छेद 368 में यथा उपबंधित संविधान में संशोधन करने की संसद् की सांविधानिक शक्तियों के विस्तार क्षेत्र से बाहर है। इसके अतिरिक्त इस घोषणा के लिए कतिपय निदेशों या उपयुक्त आदेशों की ईप्सा की गई है कि याचीगण यथास्थिति शासक या उत्तराधिकारी शासक बने रहें और प्रत्यर्थी-भारत सरकार को यह निदेश देने की ईप्सा की गई है कि वह तत्कालीन राज्यों के शासकों के रूप में उनके निजी अधिकारों, सुविधाओं और विशेषाधिकारों को मान्यता देती रहे और उनको उनकी बकाया रकमों के अतिरिक्त निजी थैलियों का संदाय करती रहे। याचिकाएं खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित—संविधान (छब्बीसवां) संशोधन अधिनियम, 1971 पूर्ण रूप से विधिमान्य है। (पैरा 112)

संविधान के छब्बीसवें संशोधन के कारण उसके स्वरूप में परिवर्तन होने का कोई प्रश्न नहीं है। अनुच्छेद 291 और 362 के हटाए जाने से

स्वरूप में न ही उसकी स्कीम अथवा उसके बुनियादी तत्वों में अथवा उसके आधारभूत प्रारूप या उसकी प्रकृति में कोई परिवर्तन हुआ है। पहचान का प्रश्न केवल वहां उठेगा जहां संविधान के प्रारूप, स्वरूप और अन्तर्वस्तु में कोई परिवर्तन किया गया हो। (पैरा 107)

न्यायालय आक्षेपित संशोधन के नैतिक पहलू पर विचार नहीं कर सकता। आक्षेपित संशोधन संसद् के माध्यम से अभिव्यक्त की गई जनता की इच्छा है। (पैरा 206)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[1990]	(1990) 4 एस० सी० सी० 297 = (1991) एस० सी० सी० (एल एंड एस) 112 = (1990) 14 ए० टी० सी० 846: **कृष्ण कुमार** बनाम **भारत संघ;**	103
[1983]	(1983) 1 एस० सी० सी० 147: **संजीव कोक मैन्युफैक्चरिंग कं०** बनाम **भारत कोकिंग कोल इंडिया लिमिटेड;**	87
[1981]	[1981] 4 उम० नि० प० 288 = (1981) 1 एस० सी० सी० 166: **महाराव साहिब श्री भीम सिंह जी** बनाम **भारत संघ और अन्य;**	77
[1981]	[1981] 4 उम० नि० प० 543 = [1980] 3 एस० सी० सी० 587: **वामन राव और अन्य** बनाम **भारत संघ और अन्य;**	77, 133
[1981]	[1981] 4 उम० नि० प० 419 = [1981] 1 एस० सी० सी० 722 = (1981) एस० सी० सी० (एल एंड एस) 258: **अजय हासिया** बनाम **ख़ालिद मुजीब सेहरावर्दी;**	142
[1981]	[1981] 3 उम० नि० प० 146 = [1981] 1 एस० सी० आर० 206 = (1980) 3 एस० सी० सी० 625: **मिनर्वा मिल्स लि०** बनाम **भारत संघ और अन्य;**	142
[1981]	[1981] 4 उम० नि० प० 133 = (1981) 1 एस० सी० सी० 608: **फ्रांसिस कोरेली मुल्लिन** बनाम **प्रशासक, संघ राज्य क्षेत्र, दिल्ली;**	195
[1980]	(1980) 4 एस० सी० सी० 1 = [1980] 3 एस० सी० आर० 1338: **कस्तूरी लाल लक्ष्मी रेड्डी** बनाम **जम्मू-कश्मीर राज्य;**	142
[1979]	(1979) 3 एस० सी० सी० 489: **आर०डी० शेट्टी** बनाम **भारत का अन्तर्राष्ट्रीय विमानपत्तन प्राधिकरण;**	99
[1979]	[1979] 1 उम० नि० प० 243 = [1978] 2 एस० सी० आर० 621 = (1978) 1 एस० सी० सी० 248: **मेनका गांधी** बनाम **भारत संघ;**	99
[1978]	[1978] 4 उम० नि० प० 582 = [1978] 1 एस० सी० आर० 787 = (1978) 1 एस० सी० सी० 37 = (1978) एस० सी० सी० (एल एंड एस) 23: **रमेश प्रसाद सिंह** बनाम **बिहार राज्य और अन्य;**	108,146
[1976]	[1976] 1 उम० नि० प० 1 = (1975) सप्ली० एस० सी० सी० 1: **इंदिरा नेहरू गांधी** बनाम **राज नारायण;**	134
[1974]	[1974] 2 एस० सी० आर० 348 = (1974) 4 एस० सी० सी० 3 = (1974) एस० सी० सी० (एल एंड एस) 165: **ई०पी० रायप्पा** बनाम **तमिलनाडु राज्य;**	99
[1973]	[1973] 3 एस० सी० आर० 39 = (1973) 1 एस० सी० सी० 500: **नागपुर इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट और एक अन्य** बनाम **विट्ठल राव और अन्य;**	146
[1973]	[1973] 2 उम० नि० प० 159 = (1973) 4 एस० सी० सी० 225: **केशवानंद भारती श्री पदगालवरु और कुछ अन्य** बनाम **केरल राज्य और अन्य;**	127
[1971]	(1971) 3 एस० सी० सी० 5: **ओ० एम० मोहिन्द्र** बनाम **जिला न्यायाधीश दिल्ली;**	145
[1971]	[1971] 1 उम० नि० प० 491 = (1971) 1 एस० सी० सी० 85-[1971] 3 एस० सी० आर० 9: **हिज हाईनेस महाराजाधिराज माधव राव जिवाजीराव सिंधिया बहादुर और अन्य** बनाम **भारत संघ;**	41, 126
[1971]	[1971] सप्ली० एस० सी० आर० 549 = (1971) 2 एस० सी० सी० 188: **मौ० उस्मान और अन्य** बनाम **आन्ध्र प्रदेश राज्य और अन्य;**	108
[1970]	[1970] 3 एस० सी० आर० 530 = (1970) 1 एस० सी० सी० 248: **रुस्तम कवासजी कूपर** बनाम **भारत संघ;**	56
[1967]	ए० आई० आर० 1967 एस० सी० 1643 = [1967] 2 एस० सी० आर० 762: **गोलक नाथ** बनाम **पंजाब राज्य;**	55
[1965]	[1965] 1 एस० सी० आर० 933 = ए० आई० आर० 1965 एस० सी० 845: **सज्जन सिंह** बनाम **राजस्थान राज्य;**	54
[1965]	[1965] 3 एस० सी० आर० 201 = ए० आई० आर० 1965 एस० सी० 1798: **नवाब उस्मान अली खान** बनाम **सागर मल;**	150
[1962]	ए० आई० आर० 1962 एस० सी० 73-[1962] 1 एस० सी० आर० 702: **मोहन लाल जैन** बनाम **हिज हाईनेस महाराजा श्री सवाईमान सिंह जी;**	146
[1955]	[1955] 1 एस० सी० आर० 415 = ए० आई० आर० 1954 एस० सी० 447: **वीरेन्दर सिंह और अन्य** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य;**	97, 122
[1952]	[1952] एस० सी० आर० 89 = ए० आई० आर० 1951 एस० सी० 458: **शंकरी प्रसाद** बनाम **भारत संघ;**	52

54 लायर्स एडीशन 793, 801 (1909) :
बीम्स बनाम **यूनाइटेड स्टेट्स**। 195

सिविल अपीली अधिकारिता : 1972 की रिट याचिका सं॰ 351.

1992 के अंतर्वर्ती आवेदन संख्या 1, 2 और 3 के साथ 1972 की रिट याचिका संख्या 351 और 1992 की रिट याचिका संख्या 798.

भारत के संविधान के अनुच्छेद 32 के अन्तर्गत।

उपस्थित होने वाले पक्षकारों की ओर से सर्वश्री जी॰ रामास्वामी, महान्यायवादी, सोली जे॰ सोराबजी, एच॰ एन॰ साल्वे, जी॰ एल॰ सांघी, डा॰ वी॰ गौरीशंकर, डी॰ डी॰ ठाकुर और ए॰ के॰ गांगुली, ज्येष्ठ अधिवक्ता (उनके साथ जे॰ बी॰ दादा चन्जी, सुश्री ए॰ के॰ वर्मा, सुनील गुप्ता, एस॰ सुकुमारन, मनमोहन, सुश्री एस॰ पाठक, एस॰ राजप्पा, सुश्री ए॰ सुभाषिणी, पी॰ परमेश्वरन, सी॰ वी॰ एस॰ राव, आर॰ एफ॰ नारीमन, एम॰ पी॰ विनोद, आर॰ नगेन्द्र नायडू एन॰ एन॰ भट्ट, सी॰ एन॰ श्रीकुमार, पिचई डी॰ गोवर्धन, संतोष सिंह, सुश्री एम॰ करंजीवाला, अनिप सचथे और जी॰ प्रकाश)

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति एस॰ रत्नावेल पांडियन (स्वयं मुख्य न्यायमूर्ति एल॰ एम॰ शर्मा, बी॰ पी॰ जीवन रेड्डी और एस॰ पी॰ भरूचा की ओर से) ने दिया।

न्या॰ पांडियन — इन दो रिट याचिकाओं में संविधान (26वां संशोधन) अधिनियम, 1971 की सांविधानिक विधिमान्यता को अन्य बातों के साथ-साथ इस आधार पर प्रश्नगत किया गया है कि यह भारतीय संविधान के मूलभूत ढांचे और इसकी सारभूत विशेषताओं के प्रतिकूल है और इसलिए यह संविधान के अनुच्छेद 368 में यथाउपबंधित संविधान को संशोधित करने की संसद् की संघटक शक्तियों के क्षेत्र और प्रविषय से बाहर है। इसके अतिरिक्त कतिपय निर्देशों अथवा सुसंगत आदेशों की यह घोषणा करने के लिए याचना की गई है कि याची यथास्थिति "शासक" अथवा "उत्तरवर्ती शासक" बने हुए हैं और प्रत्यर्थी-भारत संघ को उसको तत्कालीन राज्यों के शासक के रूप में उनके व्यक्तिगत अधिकारों, प्रसुविधाओं और विशेषाधिकारों को मान्यता देना जारी रखने के लिए तथा उनकी बकाया की रकमों के अतिरिक्त उन्हें निजी थैली का संदाय जारी रखने के लिए भी निर्देश देने की याचना की गई है। इस संविवाद के समुचित रूप से समझने को सुविधापूर्ण बनाने के लिए, जिसके कारण ये दो रिट याचिकाओं और 1972 की रिट याचिका संख्या 351 में 1992 का अंतर्वर्ती आवेदन संख्या 1 से 3 फाइल किए गए हैं। उस मामले के एक संक्षिप्त सार का जैसाकि 1972 की रिट याचिका संख्या 351 से अभिव्यक्त होता है, ऐतिहासिक आधार-भूमिं सहित कथन किया जा सकेगा।

2. याची श्री रघुनाथ राव राजा कुरुन्दवाद जूनियर के भारतीय राज्य का सह-शासक था जो 15 अगस्त, 1947 के पूर्व ट्रीटी संबंध के साथ और ब्रिटिश क्राउन के शासन के अन्तर्गत एक प्रभुत्वसम्पन्न राज्य था।

3. भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947 के प्रारम्भ होने पर ब्रिटिश शासन समाप्त हो गया था और भारतीय राज्य पूर्ण रूप से प्रभुत्वसम्पन्न और स्वतंत्र बन गए थे। वे भारत या पाकिस्तान के दो अधिक्षेत्रों के साथ मिलाने या फिर से स्वतंत्र रहने के लिए मुक्त थे। याची के सह-शासक ने दोनों ओर से गवर्नमेंट ऑफ इंडिया ऐक्ट, 1935 की धारा 5 के अन्तर्गत जैसाकि भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947 के अंतर्गत अपनाई गई थी, एक अंगीकार-पत्र निष्पादित किया था। यह लिखत भारत के गवर्नर-जनरल द्वारा स्वीकार की गई थी और यह राज्य इस प्रकार भारत के अधिक्षेत्र का एक भाग बन गया था। इसी प्रकार ज्यादातर अन्य भारतीय राज्यों के शासकों ने भी वैसी ही लिखतें निष्पादित की थीं जिन्हें गवर्नर-जनरल द्वारा स्वीकार किया गया था। उक्त लिखत के अनुसार याची ने उसकी अनुसूची में विनिर्दिष्ट मामलों को ऐसे मामलों के रूप में स्वीकार किया था जिसके संबंध में डोमिनियन लेजिस्लेचर उस राज्य के लिए विधि बना सकेंगी और अपना यह आशय घोषित किया था कि भारतीय गवर्नर-जनरल, डोमिनियन लेजिस्लेचर, फैडरल कोर्ट और उस डोमिनियन के प्रयोजनार्थ स्थापित कोई अन्य डोमिनियन प्राधिकारी इस लिखत के निबंधन के अध्यधीन कुरुन्दवाद राज्य के संबंध में ऐसे कृत्यों का निर्वहन करेगा जो 15 अगस्त, 1947 को भारत के अधिक्षेत्र में प्रवृत्त गवर्नमेंट आफ इंडिया ऐक्ट, 1935 द्वारा उनमें निहित किए जा सकेंगे। याची के अनुसार इस लिखत के खण्ड 7 में यह उपबंध किया गया था कि उसमें की किसी बात को भविष्य में भारत के किसी संविधान के किस प्रकार से स्वीकार करने के लिए और किसी ऐसे भविष्य के संविधान के अन्तर्गत भारत सरकार के साथ कोई करार करने के लिए उसके विवेकाधिकार पर निर्बन्धन लगाने के लिए शासक को वचनबद्ध नहीं समझा जाएगा। तत्पश्चात् अनेक शासकों ने अंगीकृत करने और डोमिनियन गवर्नमेंट को अपने राज्यों के प्रशासन अंतरित करने के करार निष्पादित किए थे। विलयन करार "भारतीय राज्यों पर श्वेत पत्र" में दिए गए प्ररूप में था और इसे 19 फरवरी, 1948 को निष्पादित किया गया था। तब याची के राज्य का प्रशासन 8 मार्च, 1948 को सौंपा गया था।

4. याची का मामला यह है कि विलयन करार के अंतर्गत राज्य के राजस्व से उसे (1956 में भारत सरकार के आदेश द्वारा यथा-संशोधित) विलयन करार में यथाविनिर्दिष्ट उसकी निजी थैली उसके व्यक्तिगत अधिकार, विशेषाधिकार और गरिमाएं आरक्षित करने के अलावा वार्षिक रूप से प्राप्त करने के लिए वह हकदार था।

5. राज्यों के कतिपय समूहों ने संयुक्त राज्यों के स्थापित करने के लिए जिसमें एक सामान्य कार्यपालिका, विधानमंडल और न्यायपालिका सहित प्रसंविदा करने वाले राज्यों और ताल्लुकों के राज्य क्षेत्र सम्मिलित थे, प्रसंविदाएं की थीं। इन प्रसंविदाओं में अन्य बातों के साथ-साथ संयुक्त राज्यों के प्रशासन के लिए एक मंत्रिपरिषद् द्वारा सहायता प्राप्त और सलाह दिए जाने वाले एक राज्य प्रमुख का उपबंध किया गया था। उसमें एक संविधान सभा को स्थापित करना भी परिकल्पित था, जिसे प्रसंविदाओं और भारतीय संविधान के ढांचे के भीतर संयुक्त राज्यों के लिए संविधान विरचित करने का कार्य प्रभावित किया गया था। प्रत्येक प्रसंविदा भारत सरकार की सहमति से की गई थी जिसने उसके समस्त उपबंधों की प्रतिभूति दी थी जिसमें निजी थैली, व्यक्तिगत विशेषाधिकार इत्यादि से संबंधित उपबंध सम्मिलित थे। तथापि बाद में यह इच्छा अभिव्यक्त की गई थी कि संयुक्त राज्यों का संविधान भी भारत की संविधान सभा द्वारा विरचित किया जाना चाहिए और जो भारतीय संविधान का एक भाग हो। संयुक्त राज्यों की सरकार के साथ परामर्श करके यह विनिश्चय किया गया था कि भारत की संविधान सभा द्वारा यथा-विरचित भारत के संविधान में स्वयं संयुक्त राज्यों के सांविधानिक ढांचे को शासित

करने वाले समस्त आवश्यक उपबंध साथ ही साथ प्रसंविदा और विलयन करार में अंतर्विष्ट प्रतिभूति के लिए उपबंध सम्मिलित हों। इस विनिश्चय के अनुसरण में संयुक्त राज्यों की सरकार, विधानमंडल, न्यायपालिका इत्यादि के लिए उपबंध करने वाला भाग VII साथ ही साथ अन्य मामलों को शासित करने वाले कतिपय अप्रथम अनुच्छेद उदाहरण के तौर पर निजी थैली और शासकों के विशेषाधिकार जो उन्हें प्रसंविदाओं के ढांचे के भीतर लाते हैं, भारत के संविधान में सम्मिलित किए गए थे। तद्नुसार 13 अक्तूबर, 1949 को भारत की संविधान सभा ने अन्य बातों के साथ-साथ दो अनुच्छेद अर्थात् निजी थैली के संदाय से संबंधित अनुच्छेद 291 और शासकों के व्यक्तिगत अधिकारों और विशेषाधिकारों से संबंधित अनुच्छेद 362 अपनाए थे। संयुक्त राज्य और अन्य राज्य जो विलयित नहीं किए गए थे, से संबंधित संशोधन भी अपनाए गए थे और इन राज्यों को भाग "ख" राज्य कहा गया था। इन राज्यों के शासक और राज्य प्रमुख भारत की संविधान सभा द्वारा विरचित संविधान को अपनाने के लिए सहमत हो गए थे और यह निदेश देते हुए उद्घोषणाएं जारी की गई थीं कि भारत की संविधान सभा द्वारा अपनाया जाने वाला संविधान संयोजित राज्यों के लिए संविधान होगा। अनुपूरक प्रसंविदाएं भी प्रसंविदाएं करने वाले राज्यों द्वारा निष्पादित की गई थीं। जिन संविदाओं को भारत सरकार द्वारा सहमति और प्रतिभूति दी गई थी। तत्पश्चात् संविधान सभा ने संविधान पारित किया था और अपनाया था। याची के अनुसार यह केवल संविधान सभा के अनुच्छेद 291, 362 और अनुच्छेद 366 के खण्ड (22) के उपबंधों को स्वीकार करने के आधार पर हुआ था कि शासकों ने अपने राज्यों के संबंध में भारत के संविधान को अपनाया था। संविधान के प्रारम्भ होने के पश्चात् और उसके अनुच्छेद 366(2) के अनुसरण में याची को 26 जनवरी, 1950 से कुरुन्दवाद राज्य का शासक माना गया था और विलयन करार द्वारा तथा भारतीय संविधान द्वारा जारी किए गए निजी थैली, विशेषाधिकारों, हक और गरिमाओं का उपभोग कर रहा था। जबकि यह इस प्रकार था तो संसद् ने नए अधिनियम अर्थात् संविधान (24वां संशोधन) अधिनियम, 1971, संविधान (25वां संशोधन) अधिनियम, 1971 और संविधान (26वां संशोधन) अधिनियम, 1971 अधिनियमित किया था जिनमें से अंतिम वाले को 28 दिसम्बर, 1971 को राष्ट्रपति की सम्मति प्राप्त हुई थी। इस अधिनियम द्वारा संविधान के अनुच्छेद 291 और 362 को निरसित कर दिया गया था और एक नया अनुच्छेद 363-क अंतःस्थापित किया गया था, जिसके परिणामस्वरूप शासकों को पहले मंजूर की गई मान्यता से उन्हें वंचित कर दिया गया था और निजी थैली के उत्सादन की घोषणा की गई थी तथा निजी थैलियों के संबंध में उनके अधिकारों और बाध्यताओं को समाप्त कर दिया गया था और अनुच्छेद 366 में नया खण्ड (22) प्रतिस्थापित किया गया था। अतएव याची अब आक्षेपित संशोधन अधिनियम को संविधान के अनुच्छेद 14, 19(1)(च), 21 और 31(1) और (2) के अंतर्गत प्रतिभूत याची के मूल अधिकारों के प्रतिकूल और असांविधानिक होने के रूप में आक्षेपित कर रहा है।

6. इस रिट याचिका में 1992 के मध्यवर्ती आवेदन संख्या 1 से 3 श्रीमती कमाक्षीदेवी यावरू, श्रीमती विशालक्षी देवी यावरू और श्रीमती इंद्राक्षी देवी, मैसूर के स्वर्गीय महाराजा की पुत्रियों द्वारा फाइल किए गए हैं।

7. 1992 की रिट याचिका संख्या 798 में याची मैसूर के शासक राजाधिराज श्री जय चमाराजा वादियार का उत्तराधिकारी, जिसने मैसूर पर 18 सितम्बर, 1940 से उसके आगे 23 जनवरी, 1950 तक शासन किया था, जब संधि/करार भारत सरकार तथा राजाधिराज मैसूर के महाराजा के बीच किया गया था। इस याची ने भी संविधान (26वां संशोधन) अधिनियम, 1971 को उन्हीं आधारों पर आक्षेपित किया है जो 1972 की रिट याचिका संख्या 351 में दिए गए हैं।

8. विभिन्न आधारों में से सबसे अधिक ध्यान दिए जाने योग्य यह है कि क्या आक्षेपित अधिनियम संसद् की सांविधानिक शक्ति से परे है और क्या उसने संविधान के मूलभूत ढांचे और सारभूत तत्वों को परिवर्तित कर दिया है, नष्ट कर दिया है और नुकसान पहुंचाया है। उस आक्षेपित आदेश का उद्देश्य, जिसके द्वारा संसद् ने अनुच्छेद 291, 362 का लोप किया है, अनुच्छेद 363-क अंतःस्थापित किया है और संविधान के अनुच्छेद 366 के अन्तर्गत मूल के स्थान पर एक नया खण्ड (22) प्रतिस्थापित किया था, पूर्ववर्ती भारतीय शासकों की निजी थैलियों और विशेषाधिकारों को समाप्त करना तथा उन दो लुप्त अनुच्छेदों के अन्तर्गत उन्हें पहले से प्रदान की गई अभिव्यक्त मान्यता को समाप्त करना था। रिट याचियों की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान काउन्सेल के अनुसार उन अनुच्छेदों के अन्तर्गत दी गई प्रतिभूतियों और आश्वासनों का वापस लेना तथा निजी थैलियों, व्यक्तिगत अधिकारों, विशेषाधिकारों और गरिमाओं का उत्सादन संविधान के अनुच्छेद 366 के अन्तर्गत एक संविधान निकाय के रूप में कार्य करने वाली संसद् की शक्ति के वहां तक प्रतिकूल है जहां तक उसने न केवल संविधान को संशोधित करना चाहा है बल्कि संविधान के मूल दर्शन स्वरूप, ढांचे और तत्वों को भी नष्ट करना चाहा है।

9. यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि उन ऐतिहासिक घटनाओं का विस्तार से वर्णन किया जाए जिनके कारण शक्ति का हस्तांतरण किया गया था और राजनैतिक तथा सांविधानिक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप भारतीय राज्यों का एकीकरण किया गया था, फिर भी गत ऐतिहासिक भूमि के एक प्राथमिक टिप्पण का कथन किया जा सकेगा जिससे कि देश के समेकन के निबंधनों के अनुसार राज्य के एकीकरण के लिए उठाए गए नीति संबंधी पगों को अच्छी तरह से समझा जा सके।

10. यद्यपि भारत भौगोलिक रूप से एक एकक है, फिर भी निरन्तर उसकी लम्बी और गत उतार-चढ़ाव वाले इतिहास में उसने कदापि राजनैतिक एकरूपता प्राप्त नहीं की थी। इसमें लगभग 554 राज्य (विभिन्न रिपोर्टों में पाए जाने वाले मामूली विभेदों के अध्यधीन) जिसमें से हैदराबाद और मैसूर राज्य को राज्य क्षेत्रीय रूप से कोई हस्तक्षेप हुए बिना छोड़ दिया गया था। 216 राज्य उन संलग्न प्रदेशों में विलयित कर दिए गए थे जिनमें वे स्थित थे अथवा जिनके साथ वे संसक्त थे। पांच को भारत सरकार से प्रत्यक्ष नियंत्रण के अन्तर्गत अलग-अलग मुख्य आयुक्तों के प्रदेशों के रूप में ग्रहण किया गया था। 21 पंजाब के पहाड़ी राज्यों के अलावा जो हिमाचल प्रदेश में आते थे 310 को 6 संघों में समेकित किया गया था, जिनमें से विंध्य प्रदेश को तत्पश्चात् मुख्य आयुक्त के प्रदेश में परिवर्तित कर दिया गया था। इस प्रकार एकीकरण के परिणामस्वरूप 554 राज्यों के स्थान पर 14 प्रशासनिक एकक बन गए थे। ये एक वास्तविक या भौगोलिक समेकन था।

11. इसका अगला पग इन सभी एककों को एक सामान्य

प्रशासनिक ढांचे में फिट करना था। तत्कालीन राज्यों में प्रशासन, विकास के विभिन्न प्रक्रमों पर था और कुछ अपवादों सहित ये व्यक्तिगत तथा प्राचीन दोनों थे। ये ऐसे राज्य मैसूर, बड़ौदा, ट्रावनकोर और कोचीन होने के कारण उनकी तुलना उनकी निजी थैलियों के साथ की जा सकती थीं और कुछ मामले में वे उनसे आगे थे। किन्तु वहां इससे छोटे राज्य भी थे जहां मुख्य रूप से उनके स्रोत कमजोर होने के कारण शासक सरकार के प्राथमिक कर्तव्यों का निर्वहन करने की स्थिति में भी नहीं थे। इन दो पराकाष्ठाओं के बीच अनेक ऐसे राज्य भी थे जिनमें दक्षता की विभिन्न ऊंचाइयों की प्रशासनिक पद्धतियां थीं।

12. गत समय में इन राज्यों के अन्तर्गत आने वाला भारतीय क्षेत्र तुलनात्मक रूप से भारत के अधिक्षेत्र के कुछ क्षेत्र का 48 प्रतिशत था और इन राज्यों की संबंधित जनसंख्या की दर भारत के अधिक्षेत्र की कुल जनसंख्या का 28 प्रतिशत थी। समस्त पूर्वोक्त भारतीय राज्यों ने शेष भारत के साथ अपने विलयन के पूर्व भारत का एक पृथक् भाग विरचित किया था। यह सामान्य जानकारी है कि गवर्नमेंट आफ इंडिया ऐक्ट, 1935 का उद्देश्य भारतीय राज्यों को ब्रिटिश भारत के साथ एक ढीले परिसंघ में समान भागीदारों के रूप में सहयोजित करना था। जब भारत भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947 द्वारा स्वतंत्र हो गया था तो भारतीय राज्यों के संबंध में ब्रिटेन की सर्वोच्चता समाप्त हो गई थी। अतएव सैद्धांतिक रूप से यद्यपि शासक स्वतंत्र हो गए थे, फिर भी वास्तविक रूप से लगभग सभी शासकों ने प्रतिरक्षा, विदेशी मामलात और संचार अगस्त, 1947 में समर्पित करके विलयन पत्र पर हस्ताक्षर किए थे। शासक स्वतंत्रता के पश्चात् तुरन्त 4 वर्गों में विभाजित हो गए थे। विलयन और प्रसंविदाओं के सभी करारों में शासकों की निजी थैली के नियत करने के लिए उपबंध किया गया था जिसके अंतर्गत शासकों और उनके परिवारों के समस्त व्यय जिनमें उनके निवास स्थानों, विवाहों और अन्य खर्चों के व्यय सम्मिलित थे, लाने के लिए आशयित थे। शासकों द्वारा किए गए करार और प्रसंविदाओं के निबंधनों के अंतर्गत निजी थैलियों का संदाय शासकों को संबंधित राज्यों के राजस्व से किया जाता था और ये संदाय अब तक तदनुसार किए गए थे। भारतीय राज्य वित्त अन्वेषण समिति के साथ विचार-विमर्श के दौरान अधिकतर राज्यों द्वारा इस बात पर बल दिया गया था कि शासकों के निजी थैलियों का संदाय करने के लिए दायित्व केन्द्र द्वारा ग्रहण किया जाना चाहिए। विभिन्न तथ्यों को ध्यान में रखते हुए यह विनिश्चय किया गया था कि इन संदायों को केन्द्रीय राजस्व पर एक प्रभाव गठित करना चाहिए।

13. निजी थैली परिनिर्धारण अतएव समस्त शासकीय शक्तियों का शासकों द्वारा समर्पण करने के लिए तथा राज्यों को पृथक् एकक के रूप में विघटित करने के लिए प्रतिफल के स्वरूप में था।

14. यह कथन किया गया है कि निजी थैली की कुल रकम प्रतिवर्ष 5.8 करोड़ के लगभग आती है और प्रतिवर्ष निजी थैली की मात्रा हर पीढ़ी के साथ कटौती किए जाने के दायित्वाधीन है। वी० पी० मेनन के अनुसार जो 1947 तक गवर्नर-जनरल के सांविधानिक सलाहकार थे और तब राज्य मंत्रालय के सचिव थे और प्रिंसले राज्यों के मिलाने के निकट रूप से सम्बद्ध थे "निजी थैली के रूप में संदत्त मूल्य एकीकरण के लिए बहुत अधिक नहीं थे और निश्चय ही ये उसकी तुलना में जो शासकों ने खोया था, नगण्य था।" उसने यह संकेत किया था कि "नकद अधिशेष 77 करोड़ की कीमत के थे और यह कि दिल्ली में भवन ही लाखों रुपए की कीमत के थे"।

15. संविधान प्ररूप पर जिसका अवलम्ब रिट याचियों द्वारा लिया गया था, संविधान सभा में 12 अक्तूबर, 1949 को सरदार पटेल द्वारा दिए गए भाषण के प्रति निर्देश करना समुचित है। इस भाषण का पाठ इस प्रकार किया जा सकता है:—

> "शासकों को अपने राज्यों की शनाख्त को विलयित करने के लिए विवश करने वाली या मजबूर करने वाली कोई बात नहीं थी। बल का कोई प्रयोग न केवल प्रव्यंजित सिद्धांतों के विरुद्ध होगा अपितु गंभीर प्रतिक्रिया भी कारित करेगा। यदि शासक अलग रहने का चयन करते तो वे भारी सिविल सूचियां लेना जारी रखते जो वे पहले ले रहे थे और भारी संख्या में मामलों में वे राज्य के राजस्व का अनिर्बन्धित उपयोग का उपभोग करना जारी रख सकते थे। वह न्यूनतम जो हम उन्हें अपने शासन संबंधी शक्तियों से विलग होने के लिए मुआवजे के तौर पर दे सकते थे, उन्हें निजी थैलियों और कतिपय विशेषाधिकारों को युक्तियुक्त और निश्चित आधार पर प्रतिभूत करना था। निजी थैलियों का परिनिर्धारण शासकों द्वारा समस्त उनकी शासन संबंधी शक्तियों को समर्पित करने के लिए और राज्यों को पृथक् एकक के रूप में विघटित करने के लिए भी प्रतिफल की प्रकृति के स्वरूप में हैं। हमारे लिए इस बात पर ध्यान देना बेहतर होगा कि ब्रिटिश सरकार ने मराठा परिनिर्धारण के संबंध में ही भारी रकमें व्यय की थीं। हम स्वयं भी ब्रिटिश सरकार द्वारा उन शासकों की पेंशन के संबंध में दिए गए वचनों का सम्मान करते हैं जिन्होंने उनके शासन को समेकित करने में सहायता की थी। क्या हमें उस छोटी सी चीज़ पर हुज्जतबाज़ी करने की भी जरूरत है—छोटे शब्दों का प्रयोग प्रयोजनपूर्ण रूप से—उस मूल्य के लिए किया गया था जिसका हमने उस रक्तहीन क्रांति के लिए संदाय किया है, जिसने हमारे असंख्य लोगों के भाग को प्रभावित किया है....हमें उनके साथ न्याय करना चाहिए; हम अपने आपको उनकी स्थिति में रखें तब उनके बलिदान के मूल्य का निर्धारण करें। इन शासकों ने अब समस्त शासन संबंधी शक्तियों का अंतरण करके और अपने राज्यों के एकीकरण के लिए सहमत होकर बाध्यताओं के अपने भाग का निर्वहन किया है। इन करारों के अंतर्गत हमारी बाध्यता का मुख्य भाग यह सुनिश्चित करना है कि निजी थैलियों के संबंध में हमारे द्वारा दी गई प्रतिभूतियों को पूर्ण रूप से लागू किया जाए। ऐसा करने में हमारी असफलता विश्वास को भंग करना होगा और इस नई व्यवस्था के बनाए रखने पर गम्भीर रूप से प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा।"

16. अनुच्छेद 291 और 362 के सांविधानिक उपबंधों को जिन्हें अब आक्षेपित संविधान (26वां संशोधन) अधिनियम की धारा 2 द्वारा लुप्त कर दिया गया है, जिस रूप में वे थे, उसका पाठ इस प्रकार नीचे किया जा सकता है:—

> "291. शासकों की निजी थैली की राशि— (1) इस संविधान के प्रारम्भ से पहले जहां किसी देशी राज्य के शासक

द्वारा की गई किसी प्रसंविदा या करार के अधीन ऐसे राज्य के शासक को निजी थैली के रूप में किन्हीं राशियों की कर मुक्त देगी भारत डोमीनियन की सरकार द्वारा प्रत्याभूत या आश्वासित की गई है वहां—

(क) वैसी राशियां भारत की संचित निधि पर भारित होंगी तथा उससे दी जायेंगी; तथा

(ख) किसी शासक को दी गई वैसी राशियां, सभी आय पर करों से विमुक्त होंगी।"

"362. देशी राज्यों के शासकों के अधिकार और विशेषाधिकार—संसद् की या किसी राज्य की विधानमंडल की विधि बनाने की शक्ति के प्रयोग में, अथवा संघ या किसी राज्य की कार्यपालिका शक्ति के प्रयोग में, देशी राज्य के शासक के वैयक्तिक अधिकारों, विशेषाधिकारों और गरिमा के विषय में ऐसी प्रसंविदा या करार के अधीन, जैसा कि अनुच्छेद 291 के खण्ड (1) में निर्दिष्ट है, दी गई प्रत्याभूति या आश्वासन का सम्यक् ध्यान रखा जाएगा।"

17. अनुच्छेद 366 के खंड (22) को 1971 को आक्षेपित अधिनियम की धारा 4 द्वारा संशोधित किया गया था। हम उस खण्ड को जैसा कि वह उस समय था, और संशोधन के परिणामस्वरूप प्रतिस्थापित खण्ड (वर्तमान) को पुनरुत्पादित करेंगे।

असंशोधित खण्ड

"शासक से किसी देशी राज्य के संबंध में अभिप्रेत है, कोई राजा, प्रमुख या अन्य कोई व्यक्ति जिसने ऐसी कोई प्रसंविदा या करार, जैसा कि अनुच्छेद 291 के खण्ड (1) में निर्दिष्ट है, किया था तथा जो राष्ट्रपति द्वारा उस राज्य का शासक तत्समय अभिज्ञात है तथा उसके अन्तर्गत ऐसा कोई व्यक्ति भी है जो राष्ट्रपति द्वारा ऐसे शासक का उत्तराधिकारी तत्समय अभिज्ञात है।"

प्रतिस्थापित या संशोधित खंड

"शासक से ऐसा राजा, प्रमुख या अन्य व्यक्ति अभिप्रेत है जिसे संविधान (छब्बीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 के प्रारंभ से पहले किसी समय, राष्ट्रपति से किसी देशी राज्य के शासक के रूप में मान्यता प्राप्त थी या ऐसा व्यक्ति अभिप्रेत है जिसे ऐसे प्रारंभ से पहले किसी समय, राष्ट्रपति से ऐसे शासक के उत्तराधिकारी के रूप में मान्यता प्राप्त थी।"

18. संबंधित नए अनुच्छेद 363-क को जो आक्षेपित संशोधन अधिनियम की धारा 3 द्वारा अंतःस्थापित किया गया है और जो हमारे प्रयोजनार्थ सुसंगत भी है, पुनरुत्पादित किया जा सकेगा—

"363-क. **देशी राज्यों के शासकों को दी गई मान्यता की समाप्ति और निजी थैलियों का अंत**—इस संविधान या तत्समय प्रवृत्त किसी विधि में किसी बात के होते हुए भी—

(क) ऐसा राजा, प्रमुख या अन्य व्यक्ति, जिसे संविधान (छब्बीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 के प्रारंभ से पहले किसी समय राष्ट्रपति से किसी देशी राज्य के शासक के रूप में मान्यता प्राप्त थी, या ऐसा व्यक्ति, जिसे ऐसे प्रारंभ से पहले किसी समय राष्ट्रपति से ऐसे शासक के उत्तराधिकारी के रूप में मान्यता प्राप्त थी, ऐसे प्रारम्भ को और से ऐसे शासक या ऐसे शासक के उत्तराधिकारी के रूप में मान्यता प्राप्त नहीं रह जाएगा;

(ख) संविधान (छब्बीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 के प्रारंभ को और से निजी थैली का अंत किया जाता है और निजी थैली की बाबत सभी अधिकार, दायित्व और बाध्यताएं निर्वापित की जाती हैं और तद्नुसार खंड (क) में निर्दिष्ट, यथास्थिति, शासक, या ऐसे शासक के उत्तराधिकारी को या अन्य व्यक्ति को किसी राशि का निजी थैली के रूप में संदाय नहीं किया जाएगा।"

19. 1972 की रिट याचिका संख्या 351 में रिट याची की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान ज्येष्ठ अधिवक्ता, श्री सोली जे० सोराबजी द्वारा किए गए तर्क इस प्रकार हैं:—

संविधान का अनुच्छेद 291, 362 और 366(22) सांविधानिक स्कीम के अखण्ड भाग थे और महत्वपूर्ण मूलभूत ढांचा विरचित करते थे क्योंकि इन अनुच्छेदों का मुख्य प्रयोजन नई व्यवस्था स्थापित करने को सुलभ बनाना और भारत की आंगिक एकता सुनिश्चित करना था। इन अनुच्छेदों द्वारा शासकों को न्याय के प्रारंभिक सिद्धांतों के आधार पर और सत्यनिष्ठ करारों की पवित्रता को बनाए रखने के उद्देश्य से दिए गए वचनों की प्रतिभूति दी गई थी। इन अनुच्छेदों को सम्मिलित करके ही यह हुआ था कि भारत की एकता सभी शासकों को संविधान की लपेट के भीतर लाकर प्राप्त की गई थी और यह कि इन अनुच्छेदों का लोप करने से संविधान के मूलभूत ढांचे को ही नुकसान पहुंचा है और उसे गिरा दिया गया है। की गई प्रसंविदाएं संविदाओं की प्रकृति की थीं चूंकि प्रतिभूति सांविधानिक रूप से दी गई थी और निजी थैली को भारत की संचित निधि के अंतर्गत प्रभारित एक व्यय बनाकर पुष्टि की गई थी और "किसी शासक को भारत की डोमिनियन की सरकार द्वारा प्रतिभूति या आश्वस्त" अभिव्यक्तियों का प्रयोग, जैसा कि अनुच्छेद 291 में अंतर्विष्ट है, और "अनुच्छेद 291 के खण्ड (1) में जैसा कि निर्दिष्ट है, ऐसी संविदाओं या करारों के अन्तर्गत दी गई प्रतिभूति और आश्वासन...."

जैसा कि अनुच्छेद 362 में दिया गया है, संविधान की एक स्थायी विशेषता थी जिससे संविधान के निर्माताओं का आशय झलकता था और इस प्रकार इन दोनों अनुच्छेदों को उसी रूप में बनाए रखना चाहिए। विद्वान काउन्सेल के अनुसार इन अनुच्छेदों का लोप राजाओं को निजी थैलियों से वंचित करके अथवा उसे लेकर जो उन्हें उनके सभी प्रभुता संबंधी अधिकारों को समर्पित करने के लिए और देश की एकता और अखण्डता के प्रति अभिदाय करने के लिए प्रतिफल के रूप में दिए गए थे, उद्देशिका में अंतर्विष्ट राजनैतिक न्याय के सिद्धांत का घोर उल्लंघन करने के समान है और यह कि आक्षेपित संशोधन अधिनियम द्वारा इन अनुच्छेदों का लोप मनमाना, अयुक्तियुक्त और संविधान के अनुच्छेद 14 के प्रतिकूल है। इसके अतिरिक्त इस बात पर भी बल दिया गया है कि शासक भारत की डोमिनियन में मिल गए थे और अनुच्छेद 291 और 362 में अंतर्विष्ट वचनों और वादों के प्रतिफल स्वरूप में विलयन-पत्र निष्पादित किए थे और प्रसंविदाएं की थीं और यह कि आक्षेपित संशोधन अधिनियम संविधान के अनुच्छेद 368 के अंतर्गत यथा-उपबंधित संविधान को संशोधित करने की सांविधानिक शक्ति के क्षेत्र और प्रविषय के परे है और उससे बाहर है।

20. विद्वान ज्येष्ठ काउंसेल श्री सोली जे० सोराबजी ने अपने अतिरिक्त लिखित निवेदनों में आगे इस बात पर भी बल दिया है कि शासकों के सहयोग के बिना न केवल भारत का राज्यक्षेत्र उसकी जनता, राज्य विधानमण्डलों का गठन, लोकसभा और राज्यसभा बल्कि संविधान भी जो 26 नवम्बर, 1949 को अपनाया गया था, मूल रूप से भिन्न होता और यह कि इंडिया अर्थात् भारत उससे मूल रूप से भिन्न होता जो अस्तित्व में आया था।

21. 1972 की रिट याचिका संख्या 351 में आधार संख्या 38, 39 और 40 में यह दलील दी गई थी कि संविधान (26वां संशोधन) अधिनियम असांविधानिक, अकृत, शून्य और संविधान के अनुच्छेद 14, 19(1)(छ), 21, 31(1) और (2) के प्रतिकूल है।

22. विद्वान ज्येष्ठ काउंसेल श्री हरीश साल्वे ने यह दलील दी थी कि अनुच्छेद 291 और 362 जब सम्मिलित किए गए थे तो इनका आशय उन सत्यनिष्ठ वचनों को मान्यता प्रदान करना था जिनके आधार पर पूर्ववर्ती शासक विलयित होने के लिए सहमत हो गए थे और निजी थैलियों तथा कतिपय विशेषाधिकारों की प्रतिभूति उनकी प्रभुता को समर्पित करने के लिए और उनके राज्यों को विघटित करने के लिए मात्र एक मुआवजे के रूप में थी। यह कथित किया गया है कि करारों और प्रसंविदाओं में यथाअंतर्विष्ट निजी थैलियों के जारी रखने की सांविधानिक प्रतिभूतियां और आश्वासन देने वाले वचन "सांविधानिक स्कीम का एक अखण्ड भाग" और "सांविधानिक ढांचे का एक महत्वपूर्ण अंग" थे और उनका पूर्ण रूप से सम्मान किया जाना था और लोकमत की झूठी दलदल में उन्हें नहीं फेंकना चाहिए था अथवा राज्यों के कार्यों के अन्तर्गत दबाना नहीं चाहिए था बल्कि आक्षेपित अधिनियम ने प्रथमदृष्ट्या उन करारों के अन्तर्गत शासकों को दी गई प्रतिभूति और आश्वासनों की पुष्टि करने वाले उन करारों के महत्व पर प्रकाश डालने के लिए जिनके द्वारा शासकों को लिखितों पर हस्ताक्षर करने के लिए प्रेरित किया गया था। श्री वी० पी० मेनन जो राजकुमारों के राज्यों के मिलाने से निकट रूप से सम्बद्ध थे, के कथन और संविधान सभा में सरदार वल्लभ भाई पटेल द्वारा दिए गए भाषण उद्धृत किए थे।

23. आगे इस बात पर बल दिया गया है कि सरदार वल्लभभाई पटेल ने भी यह स्पष्ट किया था कि संविधान निर्माताओं की दृष्टि से और मतानुसार निजी थैली, विशेषाधिकारों, इत्यादि की प्रतिभूतियां प्रजातंत्रात्मक प्रकृति और भारतीय जनता के सिद्धांतों के पूर्ण रूप से अनुरूप थीं। तब विद्वान काउन्सेल ने यह कथन किया था कि संविधान सभा में अभिव्यक्त किए गए मत एक मत से स्वीकार किए गए थे और उसमें कोई विसम्मति नहीं थी और यह कि वास्तव में डा० बी० पट्टाभिसीतारमैय्या के भाषण के अंत में टिप्पणियां न केवल पूर्वोक्त प्रतिभूतियों और आश्वासनों के स्थायित्व, अलोप्यता की विशेष रूप से पुष्टिकारक हैं बल्कि इस बात का अवधारण करने में बहुत आगे चली गई हैं कि उक्त प्रतिभूतियां और आश्वासन संविधान के मूलभूत ढांचे का एक अखण्ड और परिवर्तन न किए जाने योग्य भाग बन गए हैं।

24. अंतिम रूप से यह कहा गया कि उन नियमों और सिद्धांतों के ऐतिहासिक उद्गम से अलग किसी संविधान का कोई आधारभूत ढांचा नहीं हो सकता जिन पर वह संविधान आधारित है। संविधान का ऐतिहासिक गतिशीलता को ध्यान में रखे बिना संविधान के मूलभूत ढांचे का अवधारण करने का प्रयास वास्तविक अन्याय की ओर ले जाएगा। उसके अनुसार यदि मूलभूत ढांचे के ऐतिहासिक दृष्टि से किसी परीक्षण को ध्यान में रखा जाता है तो संविधान निर्माताओं ने उनके द्वारा विरचित संविधान में अनुच्छेद 291, 362 और 366(22) को सम्मिलित करके प्रदान की गई निजी थैलियां, विशेषाधिकार इत्यादि की प्रतिभूतियां और आश्वासन किसी संदेह या विवाद के बिना, स्वयं उनके अधिकारों में संविधान के बुनियादी तत्वों के रूप में सामने आएंगी जिनका किसी सांविधानिक संशोधन द्वारा निराकरण या सर्वनाश नहीं किया जा सकता है। अंतिम रूप से उसने जो निष्कर्ष निकाला है, वह यह है कि पूर्वोक्त तीन अनुच्छेदों में अंतर्विष्ट निजी थैलियों, विशेषाधिकारों इत्यादि की प्रतिभूतियां और आश्वासन वस्तुतः संविधान निर्माताओं की पूर्वोक्त सदाचार की झलकियां थीं। यह वही विशेषताएं हैं जो भारतीय संविधान के स्वरूप को विशिष्टता प्रदान करती हैं और यह कि आक्षेपित संशोधन के उद्देश्यों और कारणों से स्पष्ट रूप से इस संशोधन का सदोष होना साबित होता है।

25. 1972 की रिट याचिका संख्या 351 में 1992 के अंतर्वर्ती आवेदन संख्या 3 में उपस्थित होने वाले ज्येष्ठ काउन्सेल श्री ए० के० गांगुली ने यह संकेत किया था कि अनुच्छेद 291, 362 और 366(22) के भारत की संविधान सभा द्वारा 12, 13, 14 और 16 अक्तूबर, 1949 को अंगीकृत किए जाने के पश्चात् मैसूर के महाराजा ने तब 25 नवम्बर, 1949 को यह प्रस्ताव रखने वाली एक उद्घोषणा जारी की थी कि मैसूर

की संविधान सभा और महाराजा ने संविधान को अंगीकृत किया है जो भारत की संविधान सभा द्वारा पारित होगा और अंगीकृत किया जाएगा। आगामी दिवस अर्थात् 26 नवम्बर, 1949 को भारतीय संविधान सभा ने भारत का संविधान अंगीकृत किया था। तत्पश्चात् 23 जनवरी, 1950 को मैसूर के महाराजा ने भारत सरकार के साथ विलयन करार निष्पादित किया था। विद्वान काउन्सेल ने राजकुमारों के राज्य के विलयन का एक संक्षिप्त इतिहास देते हुए यह कथन किया था कि यह तथ्य कि संविधान निर्माताओं ने चतुरतापूर्वक "प्रतिभूत या आश्वस्त" शब्दों का चयन किया था जो असंदिग्ध रूप से प्रसंविदाओं के अनुसार उनके साधारण अर्थ में प्रतिभूति को जारी रखने के लिए संविधान निर्माताओं के आशय को अभिव्यक्त करते हैं। विद्वान काउन्सेल ने यह तर्क किया था कि यह तथ्य कि अनुछेद 32 और 219 में आने वाली "प्रतिभूति" अभिव्यक्ति अनुच्छेद 362 में "प्रतिभूति" के अलावा स्पष्ट रूप से उससे संविधान निर्माताओं को इस विचार को अभिव्यक्त करते हैं कि उनका आशय अनुच्छेद 291 और 362 के उक्त उपबंधों को संविधान का मूलभूत और सारभूत ढांचा बनाना था। उसके अनुसार इन अधिकारों की पवित्रता को सुरक्षित रखने के लिए संविधान निर्माताओं ने निजी थैलियों के रूप में संदत्त की जानी वाली रकम पर संसद् में मतदान करने का परिवर्जन करने का चयन किया था और अपने ध्यान में उस उद्देश्य को रखते हुए उन्होंने अनुच्छेद 291(1) विरचित किया था जिसका पाठ "ऐसी राशियां, भारत की संचित निधि पर प्रभारित की जाएंगी और उनमें से उसका संदाय किया जाना चाहिए और यह कि उक्त संदायों को आय पर समस्त करों से छूट होगी।" किया जाएगा, जब इस प्रतिभूति के साथ ऐसी पवित्रता संलग्न की गई है तो आक्षेपित संशोधन के साथ उन प्रतिभूतियों और आश्वासनों को पूर्ण रूप से धूल में मिला रहा है जो सुस्पष्टतया मनमाना और समानता के खण्ड का विनाशकारी है जो संविधान का स्वीकृत रूप से एक मूलभूत तत्व है।

26. 1972 की रिट याचिका संख्या 351 में 1992 के अंतर्वर्ती आवेदन में उपस्थित होने वाले विद्वान काउन्सेल श्री आर० एफ० नारीमन ने दूसरे काउन्सेल के तर्क अपनाए थे और यह दलील दी थी कि राजाओं के राज्यों के तत्कालीन शासक उसमें अलग वर्ग विरचित करते हैं, उनमें और भारत के नागरिकों के बीच एक वास्तविक और सारभूत प्रभेदीकरण है। इस संदर्भ में उसने सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 87-ख के प्रति निर्देश किया था जो वर्ष 1951 में संविधान के प्रवृत्त होने के पश्चात् संशोधन के रूप में और स्वतंत्र भारत में उनके विरुद्ध तुच्छ वाद फाइल किए जाने से उनका संरक्षण करने के उद्देश्य से पुरःस्थापित की गई थी। विद्वान काउन्सेल के अनुसार यह अनुच्छेद 291 और 362 में अंतर्विष्ट इस तथ्य की सांविधानिक प्रतिभूति के अतिरिक्त विधायी मान्यता थी कि तत्कालीन राजकुमार उक्त पृथक् वर्ग विरचित करते हैं। जबकि स्थिति इस प्रकार थी जो विद्वान काउन्सेल के अनुसार आक्षेपित संशोधन तो संविधान के मूलभूत ढांचे का उल्लंघन करता है, असंवैधानिक है। उसने अपने इन तर्कों के समर्थन में कि यह संशोधन अधिनियम अनुच्छेद 14 और 19(1)(च) में अंतर्विष्ट सारभूत तत्वों के प्रतिकूल है, कतिपय विनिश्चय उद्धृत किए थे।

27. 1992 की रिट याचिका संख्या 798 में याची की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान ज्येष्ठ काउन्सेल, श्री डी० डी० ठाकुर ने 1992 की रिट याचिका संख्या 351 में दिए गए तर्क को अपनाने के अलावा यह भी कहा था कि ये दो अनुच्छेद संविदात्मक बाध्यताओं के हानिकरण के विरुद्ध प्रतिषेध के सिद्धांतों के अन्तर्गत, जो यूनाइटेड स्टेट्स आफ अमेरिका के संविधान के अनुच्छेद 1 के खण्ड 10 में मान्यताप्राप्त एक सिद्धांत है, कदापि नहीं आते थे। वही सिद्धांत अनुच्छेद 362 और 291 के रूप में भारतीय संविधान में सम्मिलित किया गया है। विद्वान काउन्सेल के अनुसार आक्षेपित संशोधन भारतीय संसद् द्वारा किया गया अनैतिकता का एक भद्दा निष्कर्ष है, वह भी उसकी संघटक शक्तियों के प्रयोग में और उक्त संशोधन अधिनियम उस आत्मा पर एक दुष्ट आक्रमण गठित करता है जो अननुज्ञेय है और यह कि न्याय, निष्पक्षता और युक्तियुक्तता के सिद्धांत संसद् की संशोधन शक्तियों से परे हैं। उसने आगे यह भी कथन किया था कि समानता खण्ड का विभिन्न विनिश्चयों में इस न्यायालय द्वारा जैसा निर्वचन किया गया है, वह संविधान की अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा अपरिहार्य विशेषता है और उसका विनाश संविधान के मूलभूत ढांचे में परिवर्तन करने के समान होगा और यह कि अनुच्छेद 368 के अंतर्गत संविधान में संशोधन करने के लिए संसद् के प्राधिकार का प्रयोग केवल उस समय किया जा सकता है यदि संविधान में संशोधन राज्य की नीति के निदेशक सिद्धांतों में विस्तृत रूप से निर्दिष्ट सामाजिक-आर्थिक कारणों से न्यायपूर्ण और अनिवार्य हो गया हो और यह कि किसी यथार्थ मजबूरी से असम्बद्ध होने वाला कोई संशोधन उस शक्ति का दुरुपयोग है और इसलिए स्वयं उस शक्ति के प्रयोग पर एक धोखा है।

28. भारत के विद्वान महा-न्यायवादी ने पूर्वोक्त संविधान पूर्व करारों के संबंध में यह कथन किया था कि घटनाओं का वह इतिहास जिसके परिणामस्वरूप विलयन करार किए गए थे और संविधान विरचित किया गया था, स्पष्ट रूप से यह दर्शित करते हैं कि वास्तविक रूप से दोषी राज्यों के लोगों का तत्कालीन ब्रिटिश भारत के लोगों के साथ यह एक गठबंधन है और अंगीकार पत्र केवल आधारिक दस्तावेज़ें थीं न कि शासकों के साथ व्यक्तिगत करार और इसलिए शासकों द्वारा किए गए करारों को शासकों द्वारा किए गए बलिदान का रूप देना आधाररहित है। द्वितीय, इन प्रसंविदाओं का स्वरूप एक संविदा का नहीं है क्योंकि संविदा विधि द्वारा प्रवर्तनीय होती है जबकि ये प्रसंविदाएं अनुच्छेद 363 के अनुसार संविधान द्वारा अन्याय्य बनाई गई थीं। उसके अनुसार ये प्रसंविदाएं राजनैतिक प्रकृति की थीं और आधार के रूप में कोई विधिक तथ्य का पाठ इन करारों में नहीं दिया जा सकता है और यह कि अनुच्छेद 291 और 362 में अंतर्विष्ट प्रतिभूतियां और आश्वासन निजी थैलियों के संदाय के लिए प्रतिभूतियां थीं। उसने इस बात पर बल दिया कि किसी ऐसी प्रतिभूति को सदैव किसी राजनैतिक उद्देश्य अथवा संविधान के नीति के निदेशक तत्वों को पूरा करने के अनुसरण में लोकहित में प्रतिसंहृत किया जा सकता है। ऐसा होने के कारण संविदा की पवित्रता का सिद्धांत या अनुच्छेद 291 और 362 के अन्तर्गत न आने का कोई आधार नहीं है। उसने यह भी कहा है कि राजनैतिक न्याय का सिद्धांत भी माने जाने योग्य नहीं है क्योंकि राजनैतिक न्याय से राजनैतिक समानता का सिद्धांत जैसे कि वयस्क मताधिकार सरकार का प्रजातंत्रात्मक प्ररूप इत्यादि अभिप्रेत है। इस संदर्भ में उसने हमारा ध्यान **नवाब उस्मान अली खान** बनाम

मध्य प्रदेश के संदर्भ में न्यायिक कार्य का माध्यम हिन्दी—समस्याएं एवं समाधान

*डा॰ गिरिजा शंकर तिवारी

भाषा संसूचना और संपर्क का सशक्त माध्यम है, जिससे लोग परस्पर विचारों का आदान-प्रदान करते हैं। भाषा विधि और न्याय प्रशासन का अभिन्न अंग है। विधि की अभिव्यक्ति का माध्यम भी भाषा ही है। विधि की भाषा का रजिस्टर विज्ञान और साहित्य के भाषिक रजिस्टरों से भिन्न है। शब्द केवल विचारों के माध्यम ही नहीं होते, अपितु उन्हें नियंत्रित भी करते हैं। विधि की भाषा का प्रयोग अत्यन्त सावधानी से करना चाहिए। जिस भाव से शब्द का प्रयोग किया गया है, उसका अर्थ उसी भाव और आशय से लगाया जाना चाहिए, न तो उससे अधिक और न ही उससे कम।[1] विधि की भाषा का एक सिद्धान्त है—"एक शब्द एक अर्थ" या "एक अर्थ एक अभिव्यक्ति"। इस नियम का अनुपालन आवश्यक है। दूसरे क्षेत्रों में भाषा के प्रयोग की चूक से शायद लोगों की उतनी क्षति न हो, परन्तु विधि के क्षेत्र में उपयुक्त शब्दों के प्रयोग की चूक उनके दैनिक कार्यों को प्रभावित किये बिना नहीं रहती। इतना ही नहीं, उससे लोग विधिक और आर्थिक अधिकारों से वंचित हो जाते हैं, और उसका परिणाम भयंकर हो सकता है, इस दृष्टि से विधि की भाषा सरल, सुबोध, सुगम एवं जनसामान्य की भाषा होनी चाहिए और वही भाषा न्यायिक कार्य की उपयुक्त भाषा भी है।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 343 में यह प्रावधान है कि संघ की राजभाषा हिन्दी और लिपि देवनागरी होगी। देश का प्रशासन हिन्दी भाषा के माध्यम से चलाने के लिये विधि संबंधी साहित्य का हिन्दी में उपलब्ध होना परमावश्यक है। हमारे देश में विधिसम्मत शासन है, विधि का शासन है। भारत के राष्ट्रपति से लेकर साधारण नागरिक तक सभी विधि का पालन और अनुसरण करने के लिए बाध्य हैं। संविधान निर्माताओं ने संविधान सभा[2] में भाषा नीति पर गहन विचार-विमर्श करने के बाद भाषा संबंधी विभिन्न प्रावधानों का संविधान में समावेश किया है। भाषा संबंधी मामला विधि और राष्ट्र की विधिक व्यवस्था के विकास में अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है, जिसमें जनसाधारण बिना किसी संसूचनात्मक व्यवधान के न्याय के सहभागी बन सकें। संविधान के भाग 17 में राजभाषा संबंधी विभिन्न प्रावधानों का वर्णन अनु॰ 343-351 तक किया गया है। देश में एकता और अखंडता, समरसता और भ्रातृत्व की भावना को बरकरार रखने में भाषा एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिये राजभाषा अधिनियम, 1963 अधिनियमित किया गया, जिससे हिन्दी को केन्द्र में राजभाषा का दर्जा दिया गया, परन्तु अहिन्दी भाषी प्रदेशों के आपत्ति करने पर इस अधिनियम को 1967 में संशोधित करके अंग्रेजी के प्रयोग की समयावधि अनु॰ 343 के अन्तर्गत बढ़ा दी गई। इस स्थिति का पुनर्विलोकन नहीं हो सका। इस प्रकार केन्द्र में हिन्दी का राजभाषा के रूप में अनन्य प्रयोग अनिश्चितकाल के लिये टाल दिया गया है, जो निश्चित ही देशहित और जनहित में नहीं है। संविधान के अनु॰ 348 और 349 में उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों, अधिनियमों विधेयकों आदि के लिये प्रयोग की जाने वाली भाषा संबंधी प्रावधानों का वर्णन है।

"348(1) इस भाग के पूर्वगामी उपबंधों में किसी बात के होते हुए भी, जब तक संसद विधि द्वारा अन्यथा उपबंध न करे तब तक—

> (क) उच्चतम न्यायालय और प्रत्येक उच्च न्यायालय में सभी कार्यवाहियां अंग्रेजी भाषा में होंगी,
>
> * * *
>
> (2) खंड (1) के उपखंड (क) में किसी बात के होते हुए भी, किसी राज्य का राज्यपाल, राष्ट्रपति की पूर्व सहमति से उस उच्च न्यायालय की कार्यवाहियों में, जिसका मुख्य स्थान उस राज्य में है, हिन्दी भाषा का या उस राज्य के शासकीय प्रयोजनों के लिये प्रयोग होने वाली किसी अन्य भाषा का प्रयोग प्राधिकृत कर सकेगा:
>
> परन्तु इस खंड की कोई बात ऐसे उच्च न्यायालय द्वारा दिए गए किसी निर्णय, डिक्री या आदेश को लागू नहीं होगी।
>
> * * *
>
> 349. इस संविधान के प्रारंभ से पन्द्रह वर्ष की अवधि के दौरान, अनुच्छेद 348 के खंड (1) में उल्लिखित किसी प्रयोजन के लिए प्रयोग की जाने वाली भाषा के लिए उपबंध करने वाला कोई विधेयक या संशोधन संसद के किसी सदन में राष्ट्रपति की पूर्व मंजूरी के बिना पुरःस्थापित या प्रस्तावित किए जाने की मंजूरी अनुच्छेद 344 के खंड (1) के अधीन गठित आयोग की सिफारिशों पर और उस अनुच्छेद के खंड (4) के अधीन गठित समिति के प्रतिवेदन पर विचार करने के पश्चात् ही देगा, अन्यथा नहीं।"

राष्ट्रपति ने संविधान के अनुच्छेद 344 के खंड (1) द्वारा उन्हें प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए 7 जून, 1955 को एक राजभाषा आयोग का गठन किया। राजभाषा आयोग ने राष्ट्रपति को प्रेषित 31 जुलाई, 1956 के अपने प्रतिवेदन में विधि-भाषा और न्याय-प्रशासन की भाषा के संबंध में निम्नलिखित सिफारिशें की थीं —

> 1. जहां तक उच्चतम न्यायालय की भाषा की बात है, न्यायालय की समस्त कार्यवाही अभिलेख के लिये, निर्णयों तथा आदेशों के लिए तो निश्चित ही, अन्ततोगत्वा केवल एक

---

*वरिष्ठ प्रवक्ता विधि, विधि विभाग, डा॰ हरी सिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म॰प्र॰).

1. आर॰डब्लू॰एम॰ डायस—जूरिसप्रूडेन्स—चतुर्थ संस्करण, 1976, पृष्ठ 6.

2. संविधान सभा डिबेट्स, सातवां एवं नवां वालूम्स।

उसके व्यापक प्रयोग के आदेश दिए गए।[1] तब से मध्य प्रान्त के न्याय प्रशासन में अधिकांशतः हिन्दी का प्रयोग होता रहा है, परन्तु न्यायालयों में उर्दू का ही बोलबाला था। मध्य प्रान्त की प्रशासनिक रिपोर्ट वर्ष 1862-63 से यह सुस्पष्ट होता है कि इस प्रान्त में सुव्यवस्थित विधि एवं न्याय व्यवस्था 1861 से स्थापित हुई। सागर जिला न्यायालय के रिकार्ड के निरीक्षण से निम्नलिखित तथ्य सामने आए हैं—

1. 1884 से 1909 तक न्यायालय की भाषा हिन्दी रही, परन्तु उर्दू शब्दों का बाहुल्य था, हिन्दी उर्दू के विभिन्न प्रोफार्मा चलन में थे।

2. 1910 से हिन्दी के साथ-साथ अंग्रेजी का प्रयोग भी न्यायालय में प्रारंभ हुआ और व्यावहारिक रूप में समस्त न्यायालयीन कार्य अंग्रेजी में ही होते रहे। यदा-कदा हिन्दी का प्रयोग मिलता है।

3. 19.11.1954 से न्यायालयों में हिन्दी का प्रयोग निरन्तर हो रहा है।

विधि कार्यों में हिन्दी के प्रयोग की सर्वाधिक प्रगति मध्य भारत में हुई। मध्य भारत के मध्य प्रदेश में मिल जाने पर स्वयं इस क्षेत्र में हिन्दी के प्रयोग की अवनति ही हुई प्रतीत होती है। ग्वालियर के देशीय राज्य में 26.11.1887 को ही हिन्दी भाषा तथा देवनागरी लिपि के प्रयोग की आज्ञा दी गई थी। न्याय विभाग की विज्ञप्ति क्रमांक 5840 दिनांक 24 मई, 1904, क्रमांक 1833-1501-V, दिनांक 23 सितम्बर, 1931, क्रमांक 1021-904-V एवं 1022-904-V, दिनांक 25/26 मार्च, 1936 द्वारा यहां के न्यायालयों की भाषा हिन्दी, मराठी और अंग्रेजी थी, जिसकी मध्य प्रदेश नियम और आदेश (सिविल) (पुराना) के नियम 8(अ) तथा (ब) द्वारा भी पुष्टि होती है मध्य भारत में विधायन की मूलभाषा के रूप में हिन्दी को ही अपनाया गया। कुछ देशीय राज्यों की विधि पहले से ही हिन्दी में थी। न्याय-प्रशासन के क्षेत्र में भी हिन्दी को ही अपनाया गया। मध्य भारत शासन के न्याय विभाग की विज्ञप्ति क्रमांक 115, दिनांक 26 नवम्बर, 1948 द्वारा यह स्पष्ट आदेश दिया गया कि समस्त अधीनस्थ न्यायालयों की सभी कार्यवाही हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि में ही की जाए तथा समस्त न्यायाधीशों, जिन्हें हिन्दी में कठिनाई न हो, को अपने निर्णय भी देवनागरी लिपि में ही लिखना चाहिए। इस प्रकार उच्च न्यायालय के अतिरिक्त सभी न्यायालयों की भाषा हिन्दी हुई और निर्णयों तक में उसी का प्रयोग हुआ। विन्ध्य प्रदेश में हिन्दी का प्रयोग इतना व्यापक तो नहीं था पर जिला स्तर तक के न्यायालय में वह प्रचलित थी। इस दौरान सेन्ट्रल ला प्रेस, छिन्दवाड़ा द्वारा 1900 में, मजमुआ ताजीरात हिन्द (इण्डियन पीनल कोड, 1860 का सटीक हिन्दी अनुवाद), 1909 में, मजमुआ जाब्ता दीवानी (कोड आफ सिविल प्रोसीजर, 1908 का सटीक हिन्दी अनुवाद), 1915 में, हिन्दुस्तान का कानून शहादत (इण्डियन एवीडेन्स ऐक्ट, 1872 का सटीक हिन्दी अनुवाद), 1929 में, ऐक्ट पुलिस हिन्द (इण्डियन पुलिस ऐक्ट, 1861 का सटीक हिन्दी अनुवाद), 1931 में बिक्री माल हिंन्द ऐक्ट, (इण्डियन सेल आफ गुड्स ऐक्ट, 1930 का सटीक हिन्दी अनुवाद), 1936 में, राय बहादुर मथुरा प्रसाद द्वारा उच्च न्यायालयों के निर्णयों सहित हिन्दी में लिखित हिन्दू ला की पुस्तक एवं हिन्दी में विधि की अन्य अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। इसी प्रकार मध्य प्रदेश को इस बात का भी गौरव प्राप्त है कि ग्वालियर के श्री परमेश्वर दयाल श्रीवास्तव ने 1939 में विधि-शब्दावली का निर्माण किया। उपर्युक्त तथ्यों से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि मध्य भारत में न्यायालयीन कार्यों की भाषा स्वतन्त्रता के पूर्व से ही हिन्दी रही है।

वर्तमान मध्य प्रदेश का 1956 में निर्माण होने पर मध्य प्रदेश राजभाषा अधिनियम, 1957 पारित किया गया, जिसकी धारा 3 में राज्य के सभी कार्यों-विधायन, प्रशासनिक और न्यायिक में, हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि के प्रयोग का प्रावधान है, परन्तु राज्य सरकार ने समय-समय पर अधिसूचनाएं जारी करके कुछ विनिर्दिष्ट विषयों, जैसे—दवाइयों के नुस्खे, शव परीक्षा रिपोर्ट तथा चिकित्सा-विधिक मामलों (मेडिको लीगल केसेज) में रिपोर्ट, में अंग्रेजी के प्रयोग की भी छूट दी है, जिसकी पुष्टि निम्नलिखित अधिसूचनाओं से होती है—

1. अधिसूचना क्रमांक 2309-बीस-सी॰सी॰, दिनांक 31.7.1958,

2. अधिसूचना क्रमांक 1786-201-बीस-सी॰सी॰, दिनांक 18.5.1960,

3. अधिसूचना क्रमांक 1280-316-बीस-सी॰सी॰, दिनांक 28.2.1963,

4. अधिसूचना क्रमांक 2551-बत्तीस-भा॰वि॰, दिनांक 6.9.1968,

5. अधिसूचना क्रमांक 3-बत्तीस-भा॰वि॰, दिनांक 1.1.1973,

6. अधिसूचना क्रमांक 209-तीस-भा॰वि॰, दिनांक 25.8.1977, तथा

7. ज्ञापन क्रमांक डी-2659-तीस-सा॰वि॰-83, दिनांक 15.7.1983.

न्यायिक कार्यों में हिन्दी के प्रयोग संबंधी अधिसूचना भी सरकार ने समय-समय पर जारी की हैं। उच्च न्यायालय के अतिरिक्त सभी अधीनस्थ न्यायालयों का कार्य हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि में किया जाता है। उच्च न्यायालय में भी हिन्दी का प्रयोग वैकल्पिक है, जो निम्नलिखित अध्ययन एवं सर्वेक्षण से सुस्पष्ट होता है—

अधीनस्थ न्यायालय—

(क) सिविल मामले—मध्य प्रदेश सिविल कोर्ट्स ऐक्ट 1958 (म॰प्र॰ अधिनियम संख्या 19, 1958) के अधीन मध्य प्रदेश में निम्नलिखित व्यवहार न्यायालय कार्य करते हैं:—

(1) जिला न्यायाधीश,
(2) अतिरिक्त जिला न्यायाधीश,
(3) प्रथम श्रेणी के व्यवहार न्यायाधीश, और
(4) द्वितीय श्रेणी के व्यवहार न्यायाधीश।

उच्च न्यायालय, जबलपुर ने ज्ञापन क्रमांक 6987-दो-15-21-50 पी॰टी॰एक॰एफ॰ क्रं॰ 2, दिनांक 8.8.63 द्वारा निदेशित किया कि अधीनस्थ न्यायालयों में हिन्दी के उपयोग को यथासंभव अधिक से अधिक प्रोत्साहन

---

[1] डा॰ मोती बाबू—हिन्दी विधि शब्दावली, प्रथम संस्करण, 1969, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, पृष्ठ 241.

देने की दृष्टि से माननीय मुख्य न्यायाधीश ने यह इच्छा व्यक्त की है कि द्वितीय श्रेणी के सिविल न्यायाधीशों तथा प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेटों को अपने निर्णय तथा आदेश हिन्दी में लिखने के लिये प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। इन अधिकारियों को यह भी बताया जा सकता है कि हिन्दी में उनकी निपुणता पर विशेष ध्यान दिया जाएगा।

म॰प्र॰ सिविल कोर्ट्स रूल्स, 1961 के नियम 8 में यह प्रावधान है कि समय-समय पर राज्य सरकार की अधिसूचना द्वारा विनिर्दिष्ट विषयों के अतिरिक्त सभी सिविल न्यायालयों की भाषा हिन्दी और देवनागरी लिपि है।

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 137 में अधीनस्थ न्यायालयों की भाषा संबंधी प्रावधान है। धारा 137(1) के अनुसार वह भाषा जो इस संहिता के प्रारंभ पर उच्च यायालय के अधीनस्थ किसी न्यायालय की भाषा है, उस अधीनस्थ न्यायालय की भाषा तब तक बनी रहेगी, जब तक राज्य सरकार अन्यथा निदेश न दे। धारा 137(2) राज्य सरकार को शक्ति प्रदान करती है कि वह यह घोषणा कर सकेगी कि किसी भी ऐसे न्यायालय की भाषा क्या होगी और किस लिपि में ऐसे न्यायालयों को आवेदन और उनमें की कार्यवाहियां लिखी जाएंगी।

धारा 137(3) के अनुसार जहां यह संहिता साक्ष्य के अभिलेखन से भिन्न किसी बात का किसी ऐसे न्यायालय में लिखित रूप में किया जाना अपेक्षित या अनुज्ञात करती है वहां ऐसे लेखन अंग्रेजी में किया जा सकेगा, किन्तु यदि कोई पक्षकार या उसका प्लीडर अंग्रेजी नहीं जानता है तो न्यायालय की भाषा में अनुवाद उसकी प्रार्थना पर उसे दिया जाएगा और न्यायालय ऐसे अनुवाद के खर्चों के संदाय के संबंध में ऐसा आदेश करेगा जो वह ठीक समझे।

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 (क्रमांक 5, सन् 1908) की धारा 137 की उपधारा (2) द्वारा प्रदत्त शक्तियों को प्रयोग में लाते हुए, राज्य सरकार, एतद्द्वारा यह घोषित करती है कि तारीख 26 जनवरी, 1977 से—

1. उच्च न्यायालय, मध्य प्रदेश के अधीनस्थ समस्त न्यायालयों की भाषा देवनागरी लिपि में हिन्दी होगी, और

2. ऐसे न्यायालयों के आवेदन तथा ऐसे न्यायालयों की कार्यवाहियां देवनागरी लिपि में लिखी जाएंगी। (विधि और विधायी कार्य विभाग की अधिसूचना क्र॰ 45940—फा॰नं॰ 7 (ए)—5—76, दिनांक 22.11.1976)

इस प्रकार समस्त अधीनस्थ सिविल न्यायालयों की भाषा हिन्दी एवं देवनागरी लिपि है।

(ख) आपराधिक मामले—उच्च न्यायालय, जबलपुर के ज्ञापन दिनांक 8.8.63 द्वारा अधीनस्थ न्यायालयों में प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेटों को अपने निर्णय तथा आदेश हिन्दी में लिखने के लिए प्रोत्साहित किए जाने का निदेश है।

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 272 में यह प्रावधान है कि राज्य सरकार यह अवधारित कर सकती है कि इस संहिता के प्रयोजनों के लिए राज्य के अन्दर उच्च न्यायालय से भिन्न प्रत्येक न्यायालय की कौन सी भाषा होगी।

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 (क्रमांक 2, सन् 1974) की धारा 272 द्वारा प्रदत्त शक्तियों को प्रयोग में लाते हुए, राज्य शासन यह अवधारित करता है कि उच्च न्यायालय को छोड़कर इस राज्य के प्रत्येक न्यायालय की भाषा, इस संहिता के प्रयोजनों के लिए, हिन्दी होगी। (विधि और विधायी कार्य विभाग की अधिसूचना क्र॰ फा॰ नं॰ 6-17-74-ब-21, दिनांक 28.3.74) इसी प्रकार म॰प्र॰ रूल्स और आर्डर्स (क्रिमिनल) के नियम 3 में यह प्रावधान है कि आपराधिक मामलों में राज्य के समस्त अधीनस्थ न्यायालयों की भाषा हिन्दी है। म॰प्र॰ उच्च न्यायालय रूल्स और आर्डर्स (क्रिमिनल) के नियम 15 में भी इसी प्रकार का प्रावधान है। मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय ने अपने ज्ञापन दिनांक 20.1.1977 द्वारा सभी अधीनस्थ न्यायालयों को जिला एवं सत्र न्यायाधीश के माध्यम से निदेशित किया है कि सभी सिविल एवं दाण्डिक कार्यवाहियों में हिन्दी का प्रयोग किया जाए और इसे प्रभावी रूप से लागू भी किया जाए।

शिवरूप शर्मा बनाम **आर॰ के॰ श्रीवास्तव**[1] का मामला मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय के समक्ष, न्यायिक मजिस्ट्रेट द्वारा अधिवक्ता को अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी में आवेदन देने के निदेश की वैधता को तय करने के लिए लाया गया। उच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि न्यायिक मजिस्ट्रेट द्वारा अधिवक्ता को हिन्दी में आवेदन देने का निदेश, म॰प्र॰ राजभाषा अधिनियम, 1957 सहपठनीय अनु॰ 345, राज्य सरकार की अधिसूचना क्र॰ फा॰ नं॰ 717—ब—21, दिनांक 28.3.74, अधिसूचना क्र॰ 45940-फा॰ नं॰ 7(ए) 5-76-ब-21, दिनांक 22.11.1976, उच्च न्यायालय के ज्ञापन दिनांक 20.1.1977 और म॰प्र॰ रूल्स और आर्डर्स (क्रिमिनल) के नियम 3 के अनुसार, वैध है।

इस प्रकार समस्त अधीनस्थ न्यायालयों में आपराधिक मामलों में न्यायालय की भाषा हिन्दी और लिपि देवनागरी है। रिकार्ड एवं निर्णय की भाषा हिन्दी है।

(ग) राजस्व मामले—राज्य सरकार ने राजस्व (सामान्य) विभाग के अपने ज्ञापन क्रमांक 3671-2319-सात-स-1, दिनांक 9.7.1964 द्वारा राजस्व मामलों में हिन्दी के प्रयोग के दृढ़ निश्चय की घोषणा की कि शासन चाहता है कि राजस्व मण्डल में शीघ्र से शीघ्र हिन्दी में कार्य किया जाए। राजस्व मण्डल में जहां तक फैसलों का संबंध है, राजस्व मण्डल के अध्यक्ष तथा सदस्य, जो हिन्दी में फैसले लिख सकते हैं, यथासंभव लिखें। यदि कोई सदस्य हिन्दी में फैसले न लिख सकें, तो उनके द्वारा अंग्रेजी में फैसले लिखे जाने पर कोई रोक नहीं है।

राज्य सरकार ने राजस्व विभाग के ज्ञापन क्रमांक 689-769-सात, दिनांक 2.3.1972 द्वारा यह घोषित किया कि समस्त राजस्व न्यायालयों में सभी राजस्व प्रकरणों के फैसले अनिवार्य रूप से हिन्दी में लिखे जाएं। वर्तमान में सभी राजस्व न्यायालयों में हिन्दी का प्रयोग हो रहा है।

(घ) न्याय पंचायत—सम्पूर्ण राज्य में न्याय पंचायतों में हिन्दी

---

[1] (1969) एम॰पी॰एल॰जे॰ 99.

1993(2) eILR(PAT) SC

का प्रयोग हो रहा है। **राय चंद अमी चंद** बनाम **संचालक ग्रामोद्धार एवं अन्य**[1] का मामला उच्च न्यायालय के समक्ष, मध्य भारत पंचायत रूल्स के नियम 38 जिसे बिना अंग्रेजी अनुवाद के जारी किया गया था, की वैधता को तय करने के लिए लाया गया। उच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि मध्य भारत जैसे राज्य में, जहां संविधान के पूर्व से ही राजभाषा हिंन्दी रही हो, वहां संविधानोत्तर विधि में हिन्दी का प्रयोग सर्वथा वैध एवं संवैधानिक है।

(ङ) उच्च न्यायालय—संविधान के अनु० 348(2) द्वारा प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए मध्य प्रदेश के राज्यपाल, राष्ट्रपति की पूर्व सम्मति से, उच्च न्यायालय की डिक्रियों, आदेशों तथा निर्णयों के अतिरिक्त अन्य सभी कार्यवाहियों में निम्नलिखित शर्तों के अध्यधीन रहते हुए, हिन्दी भाषा के प्रयोग को एतद्द्वारा प्राधिकृत करते हैं—

1. यदि कोई न्यायपीठ चाहे तो हिन्दी में शपथ-पत्रों, बयानों और दस्तावेजों को अंग्रेजी में अनूदित करवाने के आदेश विशेष रूप से दिये जाने चाहिएं।

2. यदि किसी निर्णय में हिन्दी के अभिवचनों, बयानों और दस्तावेजों आदि का कोई उद्धरण शामिल किया जाए, तो उसका अंग्रेजी अनुवाद उसके साथ रहना चाहिए।

3. उक्त प्रयोजन के लिए हिन्दी के प्रयोग की अनुमति वैकल्पिक आधार पर दी जा रही है, और यदि पार्टियां अंग्रेजी का प्रयोग करना चाहें तो इस संबंध में अंग्रेजी का प्रयोग यथावत् कर सकती हैं। (विधि और विधायी कार्य विभाग की अधिसूचना क्र० 23181-2225-21-(ब)70; दिनांक 18.9.1971)

राजभाषा अधिनियम, 1963 (क्रमांक 19, सन् 1963) की धारा 7 द्वारा प्रदत्त शक्तियों को प्रयोग में लाते हुए, मध्य प्रदेश के राज्यपाल, भारत के राष्ट्रपति की पूर्व सम्मति से, मध्य प्रदेश के उच्च न्यायालय द्वारा पारित या दिये गये किसी भी निर्णय, डिक्री या आदेश के प्रयोजनों के लिए, दिनांक 2 अक्तूबर, 1973 से अंग्रेजी भाषा के अतिरिक्त हिन्दी के वैकल्पिक प्रयोग को प्राधिकृत करते हैं, और जहां कोई निर्णय, डिक्री या आदेश हिन्दी में पारित किया जाए या दिया जाए, वहां उसके साथ-साथ मध्य प्रदेश के उच्च न्यायालय के प्राधिकार से निकाला गया अंग्रेजी भाषा में उसका अनुवाद भी होगा। (भाषा विभाग की अधिसूचना क्र० 2104-बत्तीस-भा०वि०, दिनांक 24.9.1973)

उपर्युक्त अधिसूचना के परिप्रेक्ष्य में मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय में बहुत से मामलों में न्यायाधीशों ने हिन्दी में निर्णय और आदेश दिए एवं पारित किए। न्यायाधीश गुलाब गुप्ता का हिन्दी में निर्णय देने का योगदान अद्वितीय है। उदाहरण के लिए —**शंकर लाल** बनाम **श्रीमती लक्ष्मीबाई,** (एम०पी० वीक्ली नोट्स, वाल्यूम-1, 1990 नोट क्र० 68, पृष्ठ 101-103) तथा **चेतन लाल पटेल** बनाम **म०प्र० राज्य,** (एम०पी० वीक्ली नोट्स, वाल्यूम-1, 1991 नोट क्र० 31, पृष्ठ 37-38) के मामलों में न्यायाधीश गुप्ता ने निर्णय हिन्दी में दिया है।

सर्वेक्षण—जुलाई वर्ष 1993 में बैतूल, मण्डला और सागर जिलों के न्यायालयों के न्यायाधीशों और राजस्व अधिकारियों से साक्षात्कार और प्रश्नावली के आधार पर हिन्दी भाषा के प्रयोग संबंधी निम्नलिखित तथ्य प्राप्त हुए हैं—

1. सभी अधीनस्थ न्यायालयों की भाषा हिन्दी और लिपि देवनागरी है,

2. सिविल तथा आपराधिक मामलों में अभिवचन एवं न्यायिक कार्यवाहियों में हिन्दी का प्रयोग होता है,

3. सामान्यतया वाद पत्र और लिखित कथन हिन्दी में स्वीकार किये जाते हैं, परन्तु अपवाद स्वरूप अंग्रेजी भाषा में भी सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 137 (3) के अन्तर्गत स्वीकार किये जाते हैं।

4. अधिवक्ताओं द्वारा बहस के दौरान हिन्दी और अंग्रेजी का प्रयोग किया जाता है, जिसमें हिन्दी, उर्दू, अरबी और अंग्रेजी के शब्दों का मिश्रण रहता है। अधिवक्तागण भाषा में **कूट-मिश्रण** एवं **कूट-चालन** का भी प्रयोग करते हैं।

5. निर्णय, आदेश, डिक्री और सज़ा हिन्दी में दिये या पारित किये जाते हैं।

6. अंग्रेजी शब्द, यदि आवश्यक हुए तो, देवनागरी में लिखे जाते हैं।

7. अपराधियों / पक्षकारों / साक्षियों के साक्ष्यों का हिन्दी में अभिलेख तैयार किया जाता है, परन्तु कभी-कभी उन्हीं के शब्दों को हिन्दी समतुल्य शब्दों के साथ लिखा जाता है। उदाहरणार्थ—(टांगिया=कुल्हाड़ी), (गोली घल गई=गोली लग गई), (छोड़-छुट्टी=तालाक), (करपा=हंसिया), (गदागद=एक ही जगह पर बार-बार मारना) आदि।

8. जब अपराधियों / पक्षकारों / साक्षियों की भाषा हिन्दी से भिन्न होती है तो दुभाषियों की मदद ली जाती है, परन्तु ऐसा बहुत कम होता है।

9. संस्वीकृति और मृत्युकालिक कथन का अभिलेख हिन्दी में किया जाता है।

10. निर्णय (मौखिक) न्यायालय में हिन्दी में सुनाये जाते हैं।

11. राजस्व न्यायालयों की भाषा भी हिन्दी और देवनागरी है। जनजातीय भाषाओं का प्रयोग कार्यवाहियों में नहीं किया जाता, परन्तु श्री एस०के० गुप्ता, तहसीलदार, मण्डला ने न्यायालयीन कार्यवाही में जनजातीय भाषा के प्रयोग को स्वीकार किया है।

12. उर्दू, अरबी और अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग न्यायालयों में अभी भी हो रहा है। उदाहरण के लिए नाजिर, नालिश, खजाना, इजाज़त, अपील, केस डायरी इत्यादि।

13. मेमो फार्म, बाण्ड, बेलबाण्ड इत्यादि के प्रोफार्मा आज भी अंग्रेजी में ही प्रयोग हो रहे हैं।

---

1 ए०आई०आर० 1957 मध्य भारत, 26.

उपर्युक्त सर्वेक्षण[1] के आधार पर यह सुस्पष्ट है कि समस्त अधीनस्थ न्यायालयों में हिन्दी का प्रयोग हो रहा है, परन्तु अधिवक्ता एवं न्यायाधीश तकनीकी अंग्रेजी, उर्दू और अरबी शब्दों का प्रयोग बराबर करते हैं। राजभाषा अधिनियम, 1957 एवं समय-समय पर राज्य सरकार की अधिसूचनाओं और ज्ञापनों से उच्च न्यायालय में निर्णय, आदेश या डिक्री में हिन्दी के वैकल्पिक प्रयोग का प्रावधान है, परन्तु जब तक राजनीतिक इच्छा शक्ति जागृत नहीं होती और उपयुक्त विधायन नहीं पारित किया जाता कि उच्च न्यायालय की भी भाषा केवल हिन्दी ही होगी, न्याय क्षेत्र में हिन्दी को उसका अभीष्ट स्थान प्राप्त नहीं हो सकेगा। कम से कम हिन्दी भाषी रायों के उच्च न्यायालयों में तो हिन्दी को ही एकमात्र भाषा का स्थान मिलना चाहिए। इस पुण्य काम में न्यायाधीशों को आगे आना होगा और जो हिन्दी में निर्णय लिख सकते हैं, उन्हें हिन्दी में ही निर्णय देना चाहिए, और इस आशय हेतु एक विधान भी बनाया जाना चाहिये, जिसमें यह प्रावधान होना चाहिए कि अनिवार्य रूप से निर्णय, डिक्री और आदेश में हिन्दी का प्रयोग किया जाए, तभी हिन्दी का न्यायिक क्षेत्र में समग्र विकास हो सकेगा।

प्रायः सभी विधियां अंग्रेजी भाषा में होने के कारण न्यायाधीश, अधिवक्ता और विधि के अध्यापक सभी ने विधि की शिक्षा अंग्रेजी की विरासत में हासिल किया है, जिससे विधि के क्षेत्र में हिन्दी के प्रयोग को अनमने मन से देखा जाता है, परंतु मध्य प्रदेश हिन्दी भाषी राज्य है और सरकार की भाषा नीति है कि सभी कार्य हिन्दी भाषा में हों तो विधि, जो लोगों के दैनिक जीवन को भी प्रभावित करती है, उसे अनिवार्य रूप से जनभाषा में ही होना चाहिये। विधि की उपयोगिता को संवर्धित करने एवं विधि के विकास के लिए न्यायिक कार्य का माध्यम हिन्दी होना परमावश्यक और अपरिहार्य है। सर्वेक्षण से यह भी पता चला है कि कुछ न्यायाधीश और अधिवक्तागण न्यायिक कार्य हिन्दी में करने में कठिनाई का अनुभव करते हैं। न्यायिक कार्य का माध्यम हिन्दी होने से निम्नलिखित समस्याएं सामने उभरकर आयी हैं—

1. विधि शब्दावली, शब्दों की एकरूपता और प्रयोग की समस्या,
2. अनुवाद की समस्या,
3. हिन्दी में विधि साहित्य की कमी, और
4. हिन्दी भाषा की ग्राह्यता और उपयुक्तता।

शब्दों में एकरूपता लाने और उनके अर्थों को सुनिश्चित करने के लिए राजभाषा खंड, विधायी विभाग, विधि और न्याय मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली ने विधि-शब्दावली का प्रकाशन किया है। मध्य प्रदेश सहित सभी हिन्दी भाषी राज्य विधि के क्षेत्र में एकरूपता बरकरार रखने के लिए इसमें प्रयुक्त शब्दों का ही प्रयोग करते हैं। सभी के लिए यह एक मानक ग्रंथ है। अब जज के लिए **न्यायाधीश** और **चीफ जस्टिस** के लिए **मुख्य न्यायमूर्ति** निश्चित कर दिया गया है। सुभिन्न विधिक अभिव्यक्तियों के लिए जो प्रतिशब्द हैं, वे निश्चित हैं, उनका प्रयोग सदैव उसी अर्थ में होगा। **मंत्री** और **सचिव** मूलतः एक ही अर्थ देते हैं, किन्तु अब वे **मिनिस्टर** और **सेक्रेट्री** के लिए रूढ़ हो गए हैं। अंग्रेजी, उर्दू, फ़ारसी इत्यादि भाषाओं के सामान्य बोलचाल के शब्दों को विधि में अंगीकार कर लिया गया है। अतः विधि शब्दावली की कमी की आपत्ति निराधार है।

प्रायः सभी विधान अंग्रेजी भाषा में निर्मित हैं और विधि शिक्षा का माध्यम भी अंग्रेजी थी। इस दृष्टिकोण से यह आपत्ति की जाती है कि हिन्दी में विधि की पर्याप्त और उपयुक्त अनूदित पुस्तकें उपलब्ध नहीं हैं, परन्तु यह आपत्ति अक्षरशः सही नहीं है। विधि के अंग्रेजी पाठ व प्राधिकृत हिन्दी रूपान्तर तैयार करने में कठिनाई अवश्य है, परन्तु प्राधिकृत हिन्दी रूपान्तर राजभाषा खंड तैयार कर रहा है। मध्य प्रदेश में अब विधि, उपविधि नियम, परिनियम इत्यादि हिन्दी भाषा में ही निर्मित होते हैं और मध्य प्रदेश राजभाषा (अनुपूरक उपबंध) अधिनियम, 1972 यह प्रतिपादित करता है कि राज्य विधान मंडल द्वारा मूलतः अंग्रेजी में पारित विधियों के प्राधिकृत हिन्दी पाठ प्रकाशित किए जाएंगे। इस नियम का पालन किया जा रहा है। राज्य सरकार व केन्द्र सरकार अनुवादकों को प्रोत्साहित करने के लिए अनूदित पुस्तकों को पुरस्कृत करती है। हां, गलत अनुवाद के उदाहरण भी सामने आते हैं, जिससे अन्याय होता है, परन्तु इस कमी को सुयोग्य और लगनशील अनुवादकों की सहायता से दूर किया जा सकता है।

कुछ लोग यह आरोप लगाते हैं कि हिन्दी में विधि की अच्छी पुस्तकें उपलब्ध नहीं हैं। प्रारंभिक समय में यह कठिनाई अवश्य रही है, परन्तु केन्द्र और राज्य सरकारों के अथक् प्रयासों से हिन्दी में विधि पुस्तकों और साहित्य का अब अभाव नहीं है। अपितु यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि हिन्दी में विधि की पर्याप्त मौलिक पुस्तकें उपलब्ध हैं। केन्द्र सरकार हिन्दी में विधि की मौलिक पुस्तकों के लेखकों को रुपये 10,000, 5,000, 3,000 और 2,000 नकद एवं प्रमाण-पत्र देकर पुरस्कृत करती है।[1] आज हिन्दी भाषा में केवल विधि की पुस्तकें ही नहीं, अपितु विभिन्न साहित्य भी उपलब्ध हैं, उदाहरणार्थ—उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका, उच्च न्यायालय सिविल निर्णय पत्रिका, उच्च न्यायालय दाण्डिक निर्णय पत्रिका, निर्णयसार आदि।

आज सभी हिन्दी भाषी राज्यों में प्रारूपण की शैली और शब्दावली में एकरूपता आ रही है। विधिक प्रारूपण में मानक खंडों के प्रयोग से अभिव्यक्ति में निश्चितार्थता आयी है, जिससे हिन्दी विधि साहित्य का निरन्तर विकास हो रहा है।

यह आरोप, कि हिन्दी भाषी में ग्राह्यता, उपयुक्तता और संसूचना की कमी है, भी निराधार है, क्योंकि हिन्दी भाषा धीरे-धीरे किन्तु निरन्तर प्रगति की ओर अग्रसरित है और विधि के क्षेत्र में यह अत्यन्त उपयोगी, न्याय प्रदाय में सहायक और प्रेषणीयता में सर्वथा समर्थ है। यह आपत्ति कि हिन्दी भाषा के प्रयोग से विधि के स्तर और गुणवत्ता में गिरावट आई है, निराधार है, क्योंकि भाषा के प्रयोग एवं विकास से गुणवत्ता स्वयं संवर्धित होती है।

---

[1] डॉ० गिरिजा शंकर तिवारी—ए क्रिटिकल स्टडी आफ लैंग्वेज लाज एण्ड लीगल लैंग्वेज इन मध्य प्रदेश—शोध प्रबन्ध, 1993, पृष्ठ 223—245.

[2] ब्रजकिशोर शर्मा—विधि के क्षेत्र में हिन्दी-रजत जयंती वर्ष ग्रंथ, 1991, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा, पृष्ठ 37.

1993(2) eILR(PAT) SC

उपर्युक्त कठिनाइयों को, यदि हैं भी तो, निम्नलिखित सुझावों से दूर किया जा सकता है—

1. विधि शिक्षा का माध्यम अनिवार्य रूप से हिन्दी होना चाहिए;

2. न्यायाधीशों को समय-समय पर प्रशिक्षण तथा पुनश्चर्या पाठ्यक्रम हिन्दी माध्यम से दिया जाए;

3. हिन्दी में विधि की मौलिक पुस्तकों के लेखन को और अधिक प्रोत्साहित किया जाए;

4. विधि की अंग्रेजी पुस्तकों का हिन्दी में अनिवार्य रूप से अनुवाद कराया जाए;

5. दुभाषियों और अनुवादकों को विधि का ज्ञान अनिवार्य रूप से होना चाहिए, तथा उन्हें सघन प्रशिक्षण दिया जाए;

6. दुभाषियों और अनुवादकों को प्रशिक्षित करने हेतु राज्य एवं केन्द्र सरकारों को उच्च कोटि की प्रशिक्षण संस्थाएं अविलंब खोलना चाहिए;

7. विधि का निर्माण हिन्दी प्रारूपण में ही किया जाए। अंग्रेजी प्रारूपण से अनुवाद की प्रथा तत्काल प्रभाव से समाप्त किया जाए;

8. उच्च न्यायालय की भाषा अनिवार्य रूप से हिन्दी होनी चाहिए, कुछ और समय के लिए भले ही वैकल्पिक भाषा बनी रहे; और

9. संशोधन द्वारा हिन्दी को उच्चतम न्यायालय की वैकल्पिक भाषा के रूप में तत्काल प्रभाव से मान्यता दी जाए।

मध्य प्रदेश में न्यायालय, विधायन, प्रशासन और विधिक शिक्षा में हिन्दी का प्रयोग होता है। समाज की आवश्यकतानुसार विधि की भाषा के रूप में हिन्दी धीरे-धीरे किन्तु निरन्तर प्रगति पथ पर अग्रसरित और विकसित हो रही है, जो जन-अकांक्षाओं के अनुरूप है। यह समय की पुकार है और लोगों की मांग भी। अंग्रेजी, संस्कृत, उर्दू, फारसी इत्यादि भाषाओं के शब्दों को आलसात करके हिन्दी विधि के क्षेत्र में एक सशक्त भाषा बन गई है, जो अनु॰ 351 के उद्देश्य के अनुरूप है। गहन विचार-विमर्श के पश्चात् निष्पक्ष मत यह है कि विधि भाषा के रूप में हिन्दी को अपनाया जाना ही देशहित में समीचीन है। अनिश्चित काल तक अंग्रेजी का विधि भाषा के रूप में बनाये रखना न केवल देश के राजनैतिक एवं आत्मिक नेताओं की चिरकालीन आशा एवं अभिलाषा के विपरीत होगा, अपितु प्रथम विधि-आयोग के विशेषज्ञों को असंतुलित मस्तिष्क का द्योतक प्रतीत हुआ है। राजभाषा आयोग, राजभाषा समिति और राष्ट्रपति द्वारा जारी 1960 के आदेश में यह प्रतिपादित किया गया है। कि समय आने पर हिन्दी अंग्रेजी का स्थान ग्रहण कर सकेगी और अन्त में उच्चतम न्यायालय की भी भाषा बन सकेगी। राष्ट्र हित में यह दृढ़ विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि वह अभीष्ट समय आ गया है, अब बिना और देर किए हुए हिन्दी को अंग्रेजी का स्थान तत्काल प्रभाव से दिया जाना चाहिए। शब्द, वाक्य संरचना, वाक्य विन्यास, शैली, शब्द-अर्थ निश्चितार्थता, प्रेषणीयता आदि की दृष्टि से हिन्दी भाषा का बहुआयामी विकास हुआ है। यह पर्याप्त सबूत है और विधि के क्षेत्र में हिन्दी को पूर्ण और अनन्य स्थान दिया जाए। यह सही समय है कि न्याय-प्रशासन जनभाषा (हिन्दी) में ही किया जाए, यही संविधान की मंशा है और संविधान की मंशा में ही जनहित, जन-आकांक्षा और लोक-न्याय सन्निहित है। न्याय देने में हिन्दी सर्वथा समर्थ है। इसके माध्यम से जन सामान्य को न्याय सुलभ हो सकेगा। लोग न्यायिक प्रक्रिया के सहभागी बन सकेंगे और विधिक प्रणाली के विकास में योगदान कर सकेंगे। न्याय व्यवस्था यदि जन भाषा में है तो वह न्याय का अनुपम उदाहरण है।

सागरमल[1] में इस न्यायालय के विनिश्चय की ओर दिलाया था जिसमें न्यायपीठ की ओर बोलते हुए माननीय न्या० बछावत ने इस प्रकार अभिनिर्धारित किया है:—

> "किसी पूर्ववर्ती भारतीय राज्य के शासक को सरकार द्वारा राजनैतिक मान्यताओं और राजनैतिक मंजूरियों के अंतर्गत निजी थैली के रूप में धन का सामयिक संदाय जो एक अधिकार के अंतर्गत नगरपालिक न्यायालय में विधिक रूप से प्रवर्तनीय नहीं है, सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 60(1)(छ) के अर्थान्तर्गत एकमात्र एक राजनैतिक पेंशन है। "पेंशन" अभिव्यक्ति के स्थान पर "निजी थैली" अभिव्यक्ति का प्रयोग ऐतिहासिक कारणों से किया गया है। निजी थैली राजनैतिक पेंशन की सभी आवश्यक विशिष्टियों की पूर्ति करती है.........।"

पूर्वोक्त मामले में आगे यह मत भी अभिव्यक्त किया गया है:—

> ".... यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि निजी थैली की रकमें प्रत्यर्थी की डिक्री के निष्पादन में संलग्न किए जाने या विक्रय किए जाने के दायित्वाधीन नहीं हैं।"

29. इन दलीलों के विभिन्न पहलुओं—तथ्यात्मक और विधिक..... दोनों पर विस्तृत रूप से चर्चा आरम्भ करने के पूर्व हम संविधान पूर्व अंगीकार पत्रों, विलयन करारों और उन प्रसंविदाओं के संदर्भ में प्रारम्भिक प्रश्न पर विचार करेंगे जो निजी थैलियों के संदाय और व्यक्तिगत विशेषाधिकारों, इत्यादि को मान्यता देते हैं और जिन करारों में इन राज्यों के भारत की डोमिनियन के साथ एकीकरण को अंतिम रूप से सुलभ बनाया था।

30. 1947 में भारत ने स्वतंत्रता अभिप्राप्त की थी और 1947 के भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम के कारण एक डोमिनियन बना था। भारतीय राज्यों पर ब्रिटिश क्राउन का आधिपत्य उसी समय उस अधिनियम की धारा 7 के आधार पर समाप्त हो गया था। उसके तुरन्त पश्चात्, कुछ के सिवाय भारत के सभी राज्य अंगीकार पत्र निष्पादित करके नई डोमिनियन में विलयित हो गए थे। शासकों द्वारा निष्पादित अंगीकार पत्र में भारत की डोमिनियन को तीन विषयों अर्थात् (1) प्रतिरक्षा, (2) विदेशी मामले और (3) संचार पर राज्यों के अंगीकरण के लिए उपबंध किया गया था। उनकी अंतर्वस्तुओं को गवर्नमेंट आफ इंडिया, ऐक्ट, 1935 की अनुसूची VII की सूची-I में परिभाषित किया गया है। इस अंगीकरण से अंगीकार किए जाने वाले राज्यों के पक्ष में कोई वित्तीय दायित्व विवक्षित नहीं था।

31. भारतीय राज्यों का भारत की डोमिनियन को इस अंगीकरण से राज्यों और सरकार के बीच एक नया गठबंधन स्थापित हुआ था जिसकी सार्थकता से राज्यों और भारत की डोमिनियन के बीच एक सांविधानिक कड़ी या संबंध उत्पन्न हुआ था। भारत की डोमिनियन को भारत के राज्य का अंगीकरण उन्हें भारत के सांविधानिक ढांचे में फिट करने की प्रक्रिया का प्रथम प्रकरण था। द्वितीय प्रकरण में एकीकरण की एक द्विमुखी प्रक्रिया राज्यों के आकार के अनुसार प्रशासनिक एककों में उन्हें समेकित करने और उनका लोकतंत्रीकरण करना था। यद्यपि राजनैतिक अलगाव की ऊंची दीवारें उठा दी गई थीं और भारतीय राज्यों में स्वतंत्रता और लोकतंत्र की इच्छा उत्पन्न होने को पूर्ण रूप से दबा दिया गया था, फिर भी स्वतंत्र होते ही राज्यों में उतनी ही स्वाधीनता प्राप्त करने की जितनी कि प्रदेशों के लोग उपभोग कर रहे थे, सामान्य इच्छा जोर पकड़ गई और शासकों से जनता के पास शक्ति के स्थानान्तरण के लिए भारी आन्दोलनों के रूप में अभिव्यक्त हुई थी। छोटे राज्यों में आत्मनिर्भर और प्रगतिपूर्ण प्रजातांत्रिक गठन के लिए मशीनरी के विरुद्ध और उन राज्यों में विधि के शासन को भारी खतरा होने के विरुद्ध विभिन्न तथ्यों के कार्यरत होने के कारण इन राज्यों का एकीकरण किया गया था। यद्यपि, सभी मामलों में एकरूपता नहीं थी। प्रथम रूप से इसके द्वारा राज्यों का विलयन भौगोलिक रूप से उन संसक्त प्रदेशों में किया गया था। द्वितीय, केन्द्रीय रूप से प्रशासित क्षेत्रों में राज्यों का संपरिवर्तन किया गया था और तृतीय, उनके राज्य क्षेत्रों का एकीकरण संघ राज्य क्षेत्रों के नाम से ज्ञात नए व्यवहार्य एककों को सर्जित करने के लिए किया गया था।

32. सरदार वल्लभभाई पटेल ने शासकों के साथ एक लम्बी चर्चा की थी और राज्यों के एकीकरण में अत्यन्त क्रियाशील भाग लिया था। विभिन्न विलयन और एकीकरण स्कीमों के लागू करने के परिणामस्वरूप: (1) 216 राज्य, प्रदेशों में विलयित हो गए थे; (2) 61 राज्यों को केन्द्रीय रूप से प्रशासित क्षेत्रों में ले लिया गया था; और (3) 275 राज्यों को संघ राज्यों में एकीकृत कर दिया गया था। इस प्रकार कुल मिलाकर 552 राज्य एकीकरण स्कीमों द्वारा प्रभावित हुए थे।

33. (1) ज्वाइंट सलैक्ट कमेटी आन इंडियन कांस्टीट्यूशनल रिफार्म्स (1933-34) की रिपोर्ट के प्रति; (2) दिसम्बर, 1947 में प्रकाशित नलिनी रंजन सरकार की अध्यक्षता में विशेषज्ञ समिति की रिपोर्ट; (3) 22 अक्तूबर, 1948 को नियुक्त की गई टी० टी० कृष्णमचारी की अध्यक्षता में इंडियन फाइनेंशियल एडवाइज़री कमेटी की रिपोर्ट के प्रति निर्देश किया जा सकेगा जिनकी सिफारिशों पर राज्य और संघ राज्यों के प्रतिनिधियों के साथ आगे चर्चा करने से यह निष्कर्ष निकला था कि विभिन्न प्रसंविदाओं और करार के अंतर्गत नियत की गई निजी थैलियों के संदाय के लिए दायित्व सरकार द्वारा ग्रहण किया जाना चाहिए; और (4) श्री बी० एन० राव की अध्यक्षता में नवम्बर, 1948 में नियुक्त की गई राव समिति की रिपोर्ट के प्रति निर्देश किया जाएगा।

34. प्रस्तुत मामले पर पुनः विचार करते हुए श्री रघुनाथराव गणपतराव ने जो 1972 की रिट याचिका संख्या 351 में याची थे, 19 फरवरी, 1948 को विलयन के प्ररूप के अनुसार एक विलयन करार निष्पादित किया था और राज्य का प्रशासन 8 मार्च, 1948 को सौंप दिया था। याची इन राज्यों के राजस्व से वार्षिक रूप से विलयन करार (1956 के भारत सरकार के आदेश द्वारा यथासंशोधित) में विनिर्दिष्ट रूप से 49,720 रुपए की अपनी निजी थैली करों से मुक्त अपनी व्यक्तिगत विशेषाधिकारों, अधिकारों और डोमिनियन सरकार द्वारा प्रत्याभूत विधि और उस राज्य की गद्दी की प्रथा के अनुसार उत्तराधिकार और राजा के व्यक्तिगत अधिकार, विशेषाधिकार और गरिमाएं प्राप्त करने के लिए हकदार था।

[1] [1965] 3 एस० सी० आर० 201=ए० आई० आर० 1965 एस० सी० 1798.

35. 1992 की रिट याचिका संख्या 798 में याची (श्री श्रीकांत दत्ता नरसिंहराजा वादियार) के पिता श्री जय चमराजा वादियार ने एक अंगीकार पत्र निष्पादित किया था और 23 जनवरी, 1950 को एक विलयन करार/संधि की थी। विलयन करार के अंतर्गत मैसूर के महाराजा वार्षिक रूप से 26,00,000 (छब्बीस लाख रुपए) की राशि अपनी निजी थैली के लिए 1 अप्रैल, 1950 से समस्त करों से मुक्त प्राप्त करने के लिए हकदार था। उक्त करार के अनुच्छेद (1) में एक परन्तुक अंतर्विष्ट था कि यह 26 लाख रुपए की राशि केवल मैसूर के महाराजा को उसके जीवन काल के दौरान संदेय थी न कि उसके उत्तराधिकारियों को जिनके लिए एक उपबंध भारत की सरकार द्वारा तत्पश्चात् किया जाएगा। इसके अलावा तत्कालीन महाराजा अपनी समस्त निजी सम्पत्तियों का (राज्य की सम्पत्तियों से भिन्न) जो करार के अनुच्छेद (2) के खण्ड (1) के अंतर्गत यथाविनिर्दिष्ट करार की तारीख को उसकी थीं, पूर्णस्वामित्व, उपयोग और उपभोग करने के लिए हकदार था।

36. हम विभिन्न राज्यों के अन्य शासकों द्वारा निष्पादित करार की विशिष्टियों की बाबत सम्बद्ध नहीं हैं।

37. ऐसा होते हुए जब 1950 में संविधान प्रवृत्त किया गया था, तो उसमें संविधान के अनुच्छेद 291, 362 और 366(2) के अंतर्गत निजी थैलियों, विशेषाधिकारों, इत्यादि के लिए पूर्वोक्त प्रतिभूतियां और आश्वासन प्रदत्त किए थे।

38. 14 मई, 1970 को संविधान (चौबीसवां संशोधन) विधेयक, 1970 अनुच्छेद 291, 362 और 366(22) के अन्तर्गत प्रदत्त पूर्वोक्त निजी थैली, विशेषाधिकारों, इत्यादि के उत्सादन के लिए तत्कालीन वित्तमंत्री, श्री वाई० बी० चव्हाण द्वारा लोक सभा में पुरःस्थापित किया गया था। इस विधेयक में 3 खण्ड और उद्देश्यों और कारणों का एक संक्षिप्त कथन अंतर्विष्ट था। इस कथन का पाठ इस प्रकार किया जा सकता है:—

> "निजी थैलियों और विशेषाधिकारों के साथ शासकता की धारणा किन्हीं प्रचलित कृत्यों और सामाजिक प्रयोजनों से सम्बद्ध समतावादी सामाजिक व्यवस्था से बेमेल है। सरकार ने अतएव, पूर्ववर्ती राज्यों के शासकों की निजी थैलियों और विशेषाधिकारों को समाप्त करने का विनिश्चय किया था, जिसके लिए ये विधेयक है।"

39. 2 सितम्बर, 1970 को इस विधेयक पर लोक सभा में मतदान किया गया था किन्तु 5 सितम्बर, 1970 को राज्य सभा ने उसे रद्द कर दिया था क्योंकि यह विधेयक राज्य सभा में अनुच्छेद 368 द्वारा यथा-अपेक्षित वर्तमान और मत देने वाले दो तिहाई से अधिक सदस्यों का बहुमत प्राप्त करने में असफल हो गया था। उक्त रद्दकरण के होते भी भारत के राष्ट्रपति ने संविधान के अनुच्छेद 366 के खण्ड (22) के अंतर्गत अपनी शक्तियों का प्रयोग करने के प्रयोजनार्थ सम्पूर्ण देश के समस्त शासकों को दी गई मान्यता वापस लेने वाले एक आदेश पर हस्ताक्षर किए थे। यह प्रभाव रखने वाली एक सूचना भारत में उन सभी शासकों को भेजी गई थी जिन्हें शासकों के रूप में पहले मान्यता दी गई थी।

40. इस राष्ट्रपति के शासकों की मान्यता वापस लेने वाले आदेश को **माधव राव सिंधिया** बनाम **भारत संघ**[1] में संविधान के अनुच्छेद 32 के अंतर्गत उसे असांविधानिक, अवैध और शून्य होने के रूप में आक्षेपित करते हुए रिट याचिकाएं फाइल करके प्रश्नगत किया गया था। इस न्यायालय की 11 न्यायाधीशों वाली एक न्यायपीठ ने अपने 15 दिसम्बर, 1970 के निर्णय द्वारा राष्ट्रपति के आदेश को अविधिमान्य, विधि के प्रतिकूल और इस आधार पर प्रवर्तनीय होने के रूप में अभिखंडित किया था कि यह संविधान के अनुच्छेद 366(22) के अंतर्गत भारत के राष्ट्रपति की शक्तियों का उल्लंघन करके किया गया था और यह घोषित किया था कि रिट याची अपने समस्त पूर्ववर्ती अधिकारों और विशेषाधिकारों जिसमें निजी थैलियों का अधिकार सम्मिलित था, उसी प्रकार से हकदार होंगे मानो उसमें आक्षेपित आदेश पारित नहीं किए गए थे। यहां इस बात पर ध्यान दिया जा सकेगा कि न्या० मित्तल और रे ने अपना विसम्मत निर्णय दिया था।

41. तदुपरांत निजी थैलियों का शासकों को संदाय प्रत्यावर्तित कर दिया गया था। तत्पश्चात् संसद् ने एक नया अधिनियम, जिसका शीर्षक संविधान (चौबीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 था, 11 राज्यों के विधानमंडलों द्वारा अनुसमर्थन प्राप्त करने पर अधिनियमित किया था। उस पर 5 नवम्बर, 1971 को राष्ट्रपति द्वारा हस्ताक्षर किए गए थे। इस संशोधन अधिनियम द्वारा खण्ड (4) जिसका पाठ "इस अनुच्छेद की कोई बात अनुच्छेद 368 के अधीन किए गए इस संविधान के किसी संशोधन को लागू नहीं होगी," के रूप में किया जा सकता है। अनुच्छेद 13 में अंतःस्थापित किया गया था और अनुच्छेद 368 को खण्ड (2) के रूप में पुनः संख्यांकित किया गया था। उस अनुच्छेद का पार्श्व शीर्षक "संविधान का संशोधन करने की प्रक्रिया" के स्थान पर "संविधान का संशोधन करने की संसद् की शक्ति और उसके लिए प्रक्रिया" के रूप में प्रतिस्थापित किया गया था। "पुनः संख्यांकित खण्ड (2) के पूर्व खण्ड (1) अंतःस्थापित किया गया था। पुनः संख्यांकित खण्ड (2) में" तब वह राष्ट्रपति के समक्ष उसकी अनुमति के लिए रखा जाएगा तथा विधेयक को ऐसी अनुमति दिए जाने के पश्चात् शब्दों के स्थान पर "वह राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत किया जाएगा जो विधेयक को अपनी अनुमति देगा और तब" प्रतिस्थापित किए गए थे। पुनः संख्यांकित खण्ड (2) के पश्चात् खण्ड (3) अंतःस्थापित किया गया था अर्थात् "अनुच्छेद 13 की कोई बात इस अनुच्छेद के अधीन किए गए किसी संशोधन को लागू नहीं होगी।"

42. इस बात पर पुनः ध्यान दिया जा सकेगा कि अनुच्छेद 368 का प्रथम रूप से संशोधन, संविधान (सातवां संशोधन) अधिनियम, 1956 की धारा 29 द्वारा "प्रथम अनुसूची के भाग क और ख में विनिर्दिष्ट" शब्दों और अक्षरों का लोप करके किया गया था और तत्पश्चात् संविधान (24वां संशोधन) अधिनियम, 1971 की

[1] [1971] 1 उम० नि० प० 491=(1971)1 एस० सी० सी० 85 = [1971] 3 एस० सी० आर० 9.

धारा 3 द्वारा किया गया था। फिर, संविधान (बयालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1956 की धारा 55 द्वारा खण्ड (4) और (5) अंतःस्थापित किए गए थे। किन्तु यह संशोधन **मिनर्वा मिल्स लिमिटेड** बनाम **भारत संघ**[1] में यह अभिनिर्धारित करते हुए असंवैधानिक घोषित किया गया था कि अनुच्छेद 368 के खण्ड (4) और (5) अंतःस्थापित करने वाले 42वें संशोधन अधिनियम की धारा 55 संसद् की संशोधन करने वाली शक्ति की सीमाओं से आगे बढ़ गई थी जिस शक्ति को **केशवानन्द भारती**[2] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि उसने संविधान के तत्वों को नुकसान पहुंचाने वाली अथवा उसके मूलभूत ढांचे को नष्ट करने वाली शक्ति सम्मिलित नहीं है।

43. संविधान (पच्चीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 अनुच्छेद 31 के खण्ड (2) में एक नया खण्ड प्रतिस्थापित करते हुए, खण्ड (2-क) के पश्चात् खण्ड (2-ख) अंतःस्थापित करते हुए प्रवृत्त किया गया था। उसी संशोधन अधिनियम द्वारा अनुच्छेद 31-ग अनुच्छेद 31-ख के पश्चात् अंतःस्थापित किया गया था, जिसका शीर्षक "कुछ निदेशक तत्वों को प्रभावी करने वाली विधियों की व्यावृत्ति" है। इस बात पर ध्यान देना जरूरी है कि अनुच्छेद 31 का लोप संविधान (चवालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1978 द्वारा 20 जून, 1979 से किया गया था।

44. आक्षेपित संविधान (छब्बीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 संसद् द्वारा पारित किया गया था और उस पर राष्ट्रपति के हस्ताक्षर 28 दिसम्बर, 1971 को प्राप्त किए गए थे। इस अधिनियम द्वारा अनुच्छेद 291 और 362 का लोप किया गया था और अनुच्छेद 363-क "देशी राज्यों के शासकों को दी गई मान्यता की समाप्ति पर निजी थैलियों का अंत" शीर्षक के अंतर्गत अंतःस्थापित किया गया था। उसी संशोधन अधिनियम द्वारा एक संशोधित नया खण्ड तत्समय वर्तमान खण्ड (22) के स्थान पर प्रतिस्थापित किया गया था। हमने पहले ही अनुच्छेद 291, 362 और अनुच्छेद 366 के वर्तमान खण्ड (22) को पुनरुत्पादित किया है।

45. आक्षेपित छब्बीसवें संशोधन के 28 दिसम्बर, 1971 के प्रभावी किए जाने के पश्चात् 1972 की रिट याचिका संख्या 351, 24 अगस्त, 1972 को ये घोषणाएं करने के लिए फाइल की गई थीं कि 1971 के साथ 24वें, 25वें और 26वें संशोधन अधिनियम असंवैधानिक, अवैध, विधिविरुद्ध, अकृत और शून्य हैं और यह कि याची एक शासक के रूप में निजी थैली और व्यक्तिगत अधिकारों, विशेषाधिकारों के लिए हकदार बना हुआ है और प्रत्यर्थी को याची को निजी थैली का संदाय जारी रखने का निदेश देते हुए एक रिट अथवा आदेश के लिए घोषणाएं करने के लिए फाइल की गई थीं। 1972 की एक और रिट याचिका संख्या 352 मलेरकोटला के महामहिम नवाब मोहम्मद इफ्तीखार अली खान द्वारा उसी अनुतोष के लिए याचना करने के लिए फाइल की गई थी जो 1972 की रिट याचिका संख्या 351 में की गई थी।

46. इस बात पर ध्यान दिया जा सकेगा कि जब 24वें, 25वें और 26वें संशोधन अधिनियमों को आक्षेपित करने वाली रिट याचिका संख्या 351 और 352 इस न्यायालय में फाइल की गई थी तब 1970 की रिट याचिका संख्या 135 **केशवानन्द भारती** बनाम **केरल राज्य**[1] शीर्षक के अंतर्गत इस न्यायालय के समक्ष लम्बित थी।

47. जब ये दोनों रिट याचिकाएं अर्थात् 1972 की रिट याचिका संख्या 351 और 352, 28 अगस्त, 1972 को एक साथ सूचीबद्ध की गई थीं तब इस न्यायालय ने निम्नलिखित आदेश पारित किया था:—

> "पक्षकारों के सुनने के पश्चात् न्यायालय ने प्रारम्भिक आदेश जारी करने का निदेश दिया था और इन रिट याचिकाओं को 1970 की रिट याचिका संख्या 135 के साथ सुने जाने का निदेश दिया था। प्रत्यर्थियों को सितम्बर, 1972 के अंत तक का समय रिट याचिकाओं के लिए प्रतिशपथ-पत्र फाइल करने के लिए मंजूर किया गया था। रिट याचिकाओं की सूचना समस्त राज्यों के महाअधिवक्ताओं को जारी की जाएगी। सभी रिट याचिकाओं की सुनवाई 23 अक्तूबर, 1972 को की जानी थी। लिखित तर्कों का निपटारा इसके साथ किया गया था।"

48. इस न्यायालय की एक 13 न्यायाधीशों की न्यायपीठ ने **केशवानन्द भारती** बनाम **केरल राज्य**[1] में इन दो रिट याचिकाओं के साथ कुछ रिट याचिकाओं की सुनवाई की थी और अपने निष्कर्ष इस प्रकार दिए थे:—

> "(1) गोलकनाथ, [(1967) 2 एस० सी० सी० 726 = ए० आई० आर० 1976 एस०सी० 1643] को उलट दिया गया है;
>
> (2) अनुच्छेद 368 संसद् को संविधान के आधारिक स्वरूप मूलभूत ढांचे या को परिवर्तित करने के लिए समर्थ नहीं बनाता है;
>
> (3) संविधान (चौबीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 विधिमान्य है;
>
> (4) संविधान (पच्चीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 की धारा 2(क) और (ख) विधिमान्य हैं;
>
> (5) संविधान (पच्चीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 की धारा 3 का प्रथम भाग विधिमान्य है। द्वितीय भाग, अर्थात् "और ऐसी घोषणा अंतर्विष्ट करने वाली कोई विधि की वह ऐसी नीति को प्रभावी करने के लिए है, किसी न्यायालय में इस आधार पर प्रश्नगत की जाएगी कि वह ऐसी नीति को प्रभावी नहीं करता है" अविधिमान्य है;

[1] [1981] 3 उम० नि० प० 146 = (1980) 3 एस० सी० सी० 625 = [1981] 1 एस० सी० आर० 206.

[2] [1973] 2 उम० नि० प० 159 = (1973) 4 एस० सी० सी० 225.

[1] [1973] 2 उम०नि०प० 159 = (1973) 4 एस० सी० सी० 225.

(6) संविधान (उन्तीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 विधिमान्य है।

इन मामलों को संविधान न्यायपीठ को विधि के अनुसार निपटाने के लिए प्रतिप्रेषित किया गया है। इस स्तर तक उपगत होने वाले व्यय के संबंध में कोई आदेश नहीं किया जाएगा।"

49. उक्त आदेश के अनुसरण में 1972 की रिट याचिका संख्या 351 छब्बीसवें संशोधन अधिनियम की संवैधानिक विधिमान्यता का **केशवानन्द भारती**[1] वाले मामले में अधिकथित विधि के अनुसार अवधारण करने के लिए अब इस संविधान न्यायपीठ के समक्ष है।

50. चूंकि उसी छब्बीसवें संशोधन अधिनियम की संवैधानिक विधिमान्यता, 1992 की रिट याचिका संख्या 798 में अन्तर्वलित है, इसलिए यह भी 1972 की रिट याचिका संख्या 351 के साथ इस न्यायपीठ के समक्ष है।

51. जहां तक कि संविधान में संशोधन करने के लिए उसी में दिए गए पृथक् तरीके का संबंध है, डा० अम्बेडकर ने कहा था "कोई भी अतएव सुरक्षित रूप से कह सकता है कि भारतीय परिसंघ कठोरता अथवा विधिवादिता के दोषों से दूषित नहीं होगा। उसकी क्षुभेद्क विशेषता यह है कि वह एक लचीला परिसंघ है।" डा० ह्वियर ने अपने माडर्न कांस्टीट्यूशन में यह टिप्पण किया है कि यह "राज्यों के अधिकारों को सुरक्षित रखते हुए शेष संविधान को सरल रूप से संशोधन के लिए छोड़कर एक अच्छा संतुलन रखता है।" हमारा संविधान संशोधन किए जाने वाला है। वस्तुतः अब तक 72 संशोधन किए जा चुके हैं जिनमें से प्रथम 1951 में अर्थात् संविधान के प्रभावी होने के 15 मास के भीतर किया गया था।

52. प्रथम संशोधन को **शंकरी प्रसाद सिंह देव** बनाम **भारत संघ**[2] में आक्षेपित किया गया था किन्तु उच्चतम न्यायालय ने एक मत से संशोधन की विधिमान्यता की पुष्टि की थी।

53. उन परिस्थितियों के संबंध में एक संक्षिप्त टिप्पण जिन्होंने 24वें संशोधन को आवश्यक बना दिया था, सारांश में प्रस्तुत किया जा सकेगा।

54. इस न्यायालय की संविधान न्यायपीठ ने **सज्जन सिंह** बनाम **राजस्थान राज्य**[3] में जहां संविधान (सत्रहवें संशोधन) अधिनियम, 1964 की संवैधानिक विधिमान्यता को आक्षेपित किया गया था, तीन न्यायाधीशों के बहुमत द्वारा **शंकरी प्रसाद**[2] में अभिव्यक्त किए गए मतों को दोहराया था यद्यपि दो न्यायाधीशों ने अपने पृथक् विसम्मत निर्णय दिये थे। विसम्मत न्यायाधीशों में से एक न्या० हिदायतुल्ला ने कहा था कि "संविधान के भाग-3 में अनेक आश्वासन दिए गए हैं कि यह सोचना कठिन होगा कि वे किसी विशेष बहुमत के खेलने की वस्तुएं थीं। दूसरे

[1][1973] 2 उम० नि० प० 159 = (1973) 4 एस० सी० सी० 225.

[2][1952] एस० सी० आर० 89 = ए० आई० आर० 1951 एस० सी० 458.

[3][1965] 1 एस० सी० आर० 933 = ए० आई० आर० 1965 एस० सी० 845.

विसम्मत न्यायाधीश, न्या० मधोलकर ने यह मत अपनाया था कि अनुच्छेद 13 में "विधि" शब्द में अनुच्छेद 368 के अंतर्गत एक सांविधानिक संशोधन सम्मिलित है और इसलिए मूल अधिकारों वाला भाग अपरिवर्तनीय था। उसके विचार में अनुच्छेद 13 अनुच्छेद 368 में पाई जाने वाली संशोधन शक्ति को भारत के संविधान के मूल अधिकारों को अपरिवर्तनीय भाग बनाकर विशेषित किया था।

55. दो विसम्मत विद्वान न्यायाधीशों की चिंताएं **गोलकनाथ** बनाम **पंजाब राज्य**[1] में इस न्यायालय की एक ग्यारह न्यायाधीशों की न्यायपीठ के समक्ष जिसमें तीन संशोधन अधिनियमों अर्थात्, प्रथम, चतुर्थ और सत्रहवें संशोधन अधिनियमों पर आक्रमण किए जाने की एक और बारी सम्मिलित थी, अंतर्वलित थीं। इस न्यायालय ने छह और पांच के अनुपात द्वारा यह अभिनिर्धारित किया था कि संसद के पास तीसरे भाग के उपबंधों में कोई संशोधन करने की शक्ति नहीं थी... जिससे कि उस भाग में अंतर्विष्ट मूल अधिकारों को वापस लिया जा सके या न्यून किया जा सके। **गोलकनाथ**[1] में विनिश्चय 1967 में दिया गया था किन्तु संशोधनों में से एक जो उसने विधिमान्य किया था, तारीख 1951 का था, एक दूसरा 1955 का था और एक और 1964 का था। अतएव, इस न्यायालय ने कोई अनर्थ होने से बचने के उद्देश्य से जो सामाजिक और आर्थिक संशोधनों पर प्रभाव डालता यदि न्यायालय अमेरिका के मामलों का अवलम्ब लेते हुए यह अभिनिर्धारित करता कि यह संशोधन आरम्भ में ही शून्य थे और भविष्यलक्षी विनिर्णय के सिद्धान्तों को उलटने के लिए, प्रश्नगत तीन संशोधनों की विधिमान्यता बनाए रखने के लिए और यह घोषणा करने के लिए इस न्यायालय को समर्थ बनाने के लिए किया गया था कि इस निर्णय के पश्चात् भारतीय संसद के पास मूल अधिकारों में कोई संशोधन करने या उसे न्यून करने की कोई शक्ति नहीं होगी। अतएव, **गोलकनाथ**[1] वाले मामले में दिए गए विनिश्चय का अतिक्रमण करने के आशय से चौबीसवां (संशोधन) अधिनियम, 1971 लाया गया था जैसा कि चौबीसवें संशोधन अधिनियम के उद्देश्यों और कारणों से झलकता है, जिसका पाठ इस प्रकार किया जा सकता है:—

"उद्देश्य और कारण

गोलकनाथ, [(1967) 2 एस० सी० आर० 762 = ए० आई० आर० 1967 एस० सी० 1643] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय ने संकीर्ण बहुमत द्वारा संविधान के समस्त भागों को जिसमें मूल अधिकारों से संबंधित भाग-III सम्मिलित है, संशोधन करने के लिए संसद की शक्ति की पुष्टि करने वाले स्वयं अपने पूर्ववर्ती विनिश्चयों को उलट दिया था। इस निर्णय का परिणाम यह समझा गया था कि संसद के पास किसी मूल अधिकार को लेने अथवा कम करने की शक्ति नहीं है चाहे ऐसा करना संविधान की उद्देशिका में उपवर्णित उद्देश्यों की

[1][1967] 2 एस० सी० आर० 762 = ए० आई० आर० 1967 एस० सी० 1643.

प्राप्ति के लिए आवश्यक क्यों न हो। यह अधिनियम अतएव संविधान के किसी भाग में संशोधन करने की शक्ति संसद को अभिव्यक्त रूप से देने के लिए संशोधन करता है।"

56. तत्पश्चात् पच्चीसवां संशोधन अधिनियम, 1971 लाया गया था जिसमें **रुस्तम कावसजी कूपर** बनाम **भारत संघ**[1] में संविधान के अनुच्छेद 31 का निर्वचन करके राज्य की नीति के निदेशक तत्वों को प्रभावी करने के रास्ते में आने वाली कठिनाइयों को दूर करने के लिए संविधान को संशोधित किया था। उक्त अधिनियम द्वारा अनुच्छेद 31 में खण्ड (2) प्रतिस्थापित किया गया था और खण्ड (2-ख) अंतःस्थापित किया गया था और अनुच्छेद 31-ग जोड़ा गया था। यह संशोधन अधिनियम, अर्थात् चौबीसवें, पच्चीसवें और छब्बीसवें संशोधन अधिनियम इसके अलावा उन्तीसवां संशोधन अधिनियम और **गोलकनाथ**[2] वाले मामले में अधिकथित सिद्धांत की विधिमान्यता को जारी रखना, **केशवानन्द भारती**[3] वाले मामले में विनिश्चय करने के लिए विषय थे। यद्यपि चौबीसवां, पच्चीसवां और छब्बीसवां संशोधन अधिनियम आक्षेपित करने वाली 1972 की रिट याचिका संख्या 351 को केशवानन्द भारती वाले मामले में अन्य रिट याचिकाओं के साथ सूचीबद्ध किया गया था, फिर भी छब्बीसवें संशोधन की संवैधानिक विधिमान्यता किसी न्यायपीठ द्वारा अवधारण किए जाने के लिए रह गई थी।

57. अब हम आक्षेपित संशोधन अधिनियम की संवैधानिक विधिमान्यता की जांच करना आरम्भ करेंगे।

58. यह प्रश्न कि क्या अनुच्छेद 291 राज्यों के शासकों और भारत की डोमिनियनों के बीच की गई प्रसंविदाओं और करारों से संबंधित एक उपबंध है और क्या वह वास्तविक रूप से और सारभूत रूप से प्रसंविदाओं और करारों की विषय-वस्तु पर एक उपबंध है, इस पर मुख्य न्या॰ हिदायतुल्ला द्वारा **माधव राव**[4] वाले मामले में उसके पृथक् सहमत निर्णय में विचार किया गया था और उनका उत्तर निम्नलिखित निबंधनों में दिया गया है:— (एस॰सी॰सी॰ पृष्ठ 141, पैरा 76)

> "इस अनुच्छेद का जब सावधानी से विश्लेषण किया जाए तो इन निष्कर्षों पर पहुंचते हैं: इस उपबंध का मुख्य और एकमात्र प्रयोजन निजी थैलियों को भारत की संचित निधि पर प्रभारित करना है और आय पर करों से मुक्त उनका संदाय बाध्यकर करना है। ये डोमिनियन सरकार के समस्त करों से मुक्ति को केवल आय पर करों से मुक्ति तक सीमित करता है। इससे पूर्व हमें यह दर्शित करने का अवसर मिला था कि राजकुमारों ने अपने आपको उनकी निजी थैलियों के लिए समस्त करों से मुक्त होने की प्रतिभूति दी थी। डोमिनियन सरकार ने उसी मुक्ति के लिए प्रतिभूति अथवा आश्वासन दिया था। संविधान उसी मुक्ति को आय पर करों तक असीमित करता है और संचित निधि पर एक प्रभार सर्जित करता है। अन्य प्रतिभूतियां भी थीं जो बिलासपुर और भोपाल के विलयन करारों में (पहले उद्धृत की गई थीं) जिन्हें अनुच्छेद द्वारा नजरअन्दाज कर दिया गया है। डोमिनियन सरकार की प्रतिभूति इस प्रकार एक उपांतरित प्ररूप में जारी रही है। प्रसंविदाओं, करारों के प्रति निदेश आकस्मिक और पश्चात्वर्ती है। इस उपबंध का मुख्य और अध्यारोही प्रयोजन निजी थैलियों के संदाय को सुनिश्चित करना, संचित निधि पर उन्हें प्रभारित करना और आय पर करों से उन्हें मुक्त करना है।"

59. माननीय न्या॰ शाह ने बहुमत की ओर से बोलते हुए प्रसंविदाओं और करारों के प्रति निर्देश से निम्नलिखित मत अभिव्यक्त किया था:—

> "संविधान के पश्चात् निजी थैली का संदाय करने की बाध्यता भारत संघ पर आती थी। इस कारण नहीं कि यह भारत की डोमिनियन से विरासत में आई थी बल्कि यह अनुच्छेद 291 के अंतर्गत सांविधानिक आदेश के कारण थी। इस बाध्यता का स्रोत अनुच्छेद 291 में था न कि प्रसंविदा और करारों में।" (रेखांकित शब्दों पर जोर दिया गया है।)

60. जहां तक कि अनुच्छेद 362 का संबंध है, न्यायाधीशों के बहुमत द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया है कि उक्त अनुच्छेद स्पष्ट शब्दों में अनुच्छेद 363 के अर्थान्तर्गत प्रसंविदाओं से संबंधित एक उपबंध है और प्रसंविदाओं के अंतर्गत अधिकारों, विशेषाधिकारों और गरिमाओं को प्रवृत्त करने के लिए कोई दावा अनुच्छेद 363 के प्रथम भाग द्वारा वर्जित है और अनुच्छेद 362 के अंतर्गत अधिकारों और विशेषाधिकारों की मान्यता को प्रवृत्त कराने के लिए दावा अनुच्छेद 363 के द्वितीय भाग के अंतर्गत वर्जित है और यह कि न्यायालयों की अधिकारिता तथापि, वहां अपवर्जित नहीं है जहां मांगा गया अनुतोष अनुच्छेद 362 के अंतर्गत व्यक्तिगत अधिकारों को प्रभावी करने के लिए अधिनियमित किए गए किसी कानूनी उपबंध पर आधारित है।

61. वह महत्वपूर्ण प्रश्न जो हमारे विचारण के लिए उद्भूत हुआ है यह है कि क्या छब्बीसवां संशोधन अधिनियम जिसने पूर्व रूप से अनुच्छेद 291 और 362 का लोप कर दिया था और एक नया अनुच्छेद 363-क को अंतःस्थापित किया था और अनुच्छेद 366 के मूल खण्ड के स्थान पर एक नया खण्ड (22) भी प्रतिस्थापित किया था, संविधान के मूलभूत ढांचे को नष्ट कर दिया है, नुकसान पहुंचाया है और परिवर्तित कर दिया है।

62. संविधान सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि यह सर्वोच्च विधि है। प्रश्न यह है कि या तो किसी वर्तमान अनुच्छेद को न्यून करके अथवा उसका लोप करके अथवा कोई नया अनुच्छेद या खण्ड जोड़कर या उसके मूल खण्ड

[1] [1970] 3 एस॰ सी॰ आर॰ 530 = (1970) 1 एस॰ सी॰ सी॰ 248.
[2] ए॰ आई॰ आर॰ 1967 एस॰ सी॰ 1643 = [1967] 2 एस॰ सी॰ आर॰ 762.
[3] [1973] 2 उम॰ नि॰ प॰ 159 = [1973] 4 एस॰ सी॰ सी॰ 225.
[4] [1971] 1 उम॰ नि॰ प॰ 491 = (1971) 1 एस॰ सी॰ सी॰ 85 = [1971] 3 एस॰ सी॰ आर॰ 9.

के स्थान पर कोई नया खण्ड प्रतिस्थापित करके संविधान में संशोधन करने के लिए संसद की शक्ति क्या है। इस अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर देने के लिए कुछ अनुपूरक प्रश्नों की जांच करनी है। वे इस प्रकार हैं कि वह प्राचल या तरीका क्या है जिसके द्वारा कोई संशोधन किया जा सकता है और उसकी परिसीमाएं संशोधन करने की शक्ति पर—या तो अभिव्यक्त या विवक्षित—क्या हैं जो स्वयं संविधान में जिसमें उसकी उद्देशिका भी सम्मिलित है, निहित हैं।

63. आगे बढ़ने के पूर्व हमें यह समझना है कि "संशोधन" से क्या अभिप्रेत है। इस शब्द की उत्पत्ति लैटिन शब्द "अमेंडियर" से हुई है — संशोधन करने से शुद्ध करना अभिप्रेत है। वाल्टर एफ० मर्फी ने कांस्टीट्यूशनलिज़्म एण्ड डैमोक्रेसी में "संशोधन से क्या अभिप्रेत है", यह स्पष्ट करते हुए निम्नलिखित कथन किया है:—

> "इस प्रकार कोई संशोधन कृत्य या लोप की त्रुटियों को शुद्ध करता है, पद्धति को, उसके स्वरूप को मूल रूप से परिवर्तित किए बिना उपांतरित करता है — यही संशोधन है जो वर्तमान संविधान के व्यवहारिक परिमाण के भीतर क्रियाशील होता है।"

64. हमारे संविधान में "संविधान का संशोधन" अभिव्यक्ति की परिभाषा नहीं की गई है, तथापि भाग 20 जिसमें एक अनुच्छेद 368 अंतर्विष्ट है, "संविधान का संशोधन" शीर्षक के अंतर्गत संविधान के कतिपय उपबंधों का संशोधन करने के लिए एक विशेष प्रक्रिया का उपबंध किया गया है।

65. हमारे लिए संविधान के विभिन्न उपबंधों और संविधान द्वारा यथा-अधिकथित संशोधन के लिए प्रक्रियाओं पर विचार करना आवश्यक नहीं है क्योंकि आक्षेपित अधिनियम लाने में संसद के प्राधिकार को आक्षेपित नहीं किया गया है।

66. **माधव राव सिंधिया**[1] वाले निर्णय के पश्चात् छब्बीसवां संशोधन उस निर्णय के प्रभाव को दबाने के लिए लाया गया था। छब्बीसवें संशोधन के उद्देश्य और कारण स्थिति को स्पष्ट करते हैं, जिसका पाठ इस प्रकार किया जा सकता है:—

> "निजी थैलियों और विशेषाधिकारों सहित शासकता की धारणा किन्हीं प्रचलित कृत्यों और सामाजिक प्रयोजनों से असम्बद्ध समतावादी सामाजिक व्यवस्था से बेमेल थी। सरकार ने अतएव पूर्ववर्ती भारतीय राज्यों के शासकों की निजी थैलियों संबंधी विशेषाधिकारों को समाप्त करने का विनिश्चय किया था। इस प्रयोजन के लिए संविधान के सुसंगत उपबंधों को संशोधित करने के अलावा उसमें एक नया अनुच्छेद अंतर्विष्ट करना आवश्यक था जिससे कि ऐसे शासकों को अभिव्यक्त रूप से पहले मंजूर की गई मान्यता का पर्यवसान किया जा सके और समस्त निजी थैलियों को समाप्त किया जा सके तथा निजी थैलियों के संबंध में समस्त अधिकारों, दायित्वों और बाध्यताओं को निर्वापित किया जा सके। अतएव, यह अधिनियम।"

67. अब हम संविधान का संशोधन करने के लिए या तो अभिव्यक्त या विवक्षित या निहित रूप से उसके लिए संसद में निहित शक्ति और परिसीमाओं के संबंध में **केशवानन्द भारती**[1] वाले मामले में अधिकथित सिद्धांत पर विचार करेंगे।

68. **केशवानन्द भारती**[1] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय ने चौबीसवें संशोधन की विधिमान्यता की पुष्टि की थी। तेरह न्यायाधीशों में से न्या० शैलेट, हेगड़े, ग्रोवर, जगमोहन रेड्डी और मुखर्जी ने यह मत अभिव्यक्त किया था कि चौबीसवां संशोधन, अभिव्यक्त भाषा में उसे स्पष्ट करने से अधिक कुछ और नहीं है जो संशोधित अनुच्छेद 368 में विवक्षित था और यह तद्धीन मूल रूप से प्रदत्त शक्ति को बढ़ा नहीं सकता था और उसने बढ़ाया भी नहीं था। न्या० रे ने कहा था कि चौबीसवें संशोधन द्वारा उसे अभिव्यक्त कर दिया गया था जो **शंकरी प्रसाद**[2] के निर्णय में **सज्जन सिंह**[3] में बहुमत के निर्णय में और **गोलक नाथ**[4] में विसम्मत निर्णय में कहा गया था अर्थात् यह कि संसद के पास संविधान को संशोधित करने की सांविधानिक शक्ति है। मुख्य न्या० सीकरी और न्या० रे, पालेकर, और खन्ना, बेग और द्विवेदी ने भी चौबीसवें संशोधन को विधिमान्य अभिनिर्धारित किया था और यह कहा था कि अनुच्छेद 368 के अन्तर्गत संसद संविधान के प्रत्येक अनुच्छेद को संशोधित कर सकती है।

69. न्या० खन्ना के अनुसार सर्वोपरि खण्ड (1) इस तथ्य पर बल देने के लिए इस अनुच्छेद में अंतःस्थापित किया गया है कि अनुच्छेद के अंतर्गत प्रयोग की गई शक्ति संघटक शक्ति है, जो संविधान में अन्य उपबंधों के अध्यधीन है और स्वयं इसके भीतर संविधान के किसी उपबंध को जोड़ना, फेर-फार करना और निरसित करना सम्मिलित है। न्या० मैथ्यू ने इस प्रकार कथन किया था कि चौबीसवें संशोधन अधिनियम द्वारा अनुच्छेद 368 की अंतर्वस्तु में कोई बात जोड़ी नहीं गई है, जैसा कि वह संशोधन के पूर्व था। यह कि संशोधन के लिए किसी विधेयक पर राष्ट्रपति के हस्ताक्षर के अनिवार्य स्वरूप के संबंधों के अलावा यह घोषणात्मक प्रकृति का है। न्या० द्विवेदी ने अभिव्यत रूप से यह कथन किया है कि संशोधन के लिए किसी विधेयक पर राष्ट्रपति के हस्ताक्षर की अनिवार्य प्रकृति के संबंध के अलावा चौबीसवें संशोधन में हर बात संशोधित अनुच्छेद 368 में पहले ही थी और यह कि संशोधन वास्तविक रूप से घोषणात्मक प्रकृति का है और **गोलक नाथ**[4] वाले मामले में बहुमत के निर्णय के द्वारा संशोधन शक्ति के संबंध में किए गए संदेहों को दूर करता है। मुख्य न्या० सीकरी ने पूर्वोक्त विनिश्चय को विस्तृत करते हुए यह मत अभिव्यक्त किया है कि चौबीसवां संशोधन जहां तक कि वह संविधान में

---

[1] [1971] 1 उम० नि० प० 491 = (1971) 1 एस० सी० सी० 85 = [1971] 3 एस० सी० आर० 9.

---

[1] [1973] 2 उम० नि० प० 159 = (1973) 4 एस० सी० सी० 225.
[2] [1952] एस० सी० आर० 89 = ए० आई० आर० 1951 एस० सी० 458.
[3] [1965] 1 एस० सी० आर० 933 = ए० आई० आर० 1965 एस० सी० 845.
[4] ए० आई० आर० 1967 एस० सी० 1643 = [1967] 2 एस० सी० आर० 762.

संशोधन करने की शक्ति को अवशिष्ट प्रविष्टि (प्रविष्टि 97 पी०आई०) से अथवा संविधान के अनुच्छेद 248 से अनुच्छेद 368 को अंतरित करता है, विधिमान्य हैं; दूसरे शब्दों में संविधान का अनुच्छेद 368 जैसा कि अब चौबीसवें संशोधन अधिनियम द्वारा संशोधित कर दिया गया है, न केवल संशोधन के लिए प्रक्रिया के संबंध में है बल्कि संसद को संविधान में संशोधन करने की अभिव्यक्त शक्ति भी प्रदत्त करता है। उसने आगे यह भी अभिनिर्धारित किया है कि अनुच्छेद 368 के अन्तर्गत संसद अब संविधान के प्रत्येक अनुच्छेद को संशोधित कर सकती है जहां तक कि उसका परिणाम अधिकथित सीमाओं के भीतर है।

70. अतएव, वह सांविधानिक प्रश्न जो **केशवानन्द भारती**[1] वाले मामले में उद्भूत हुआ था, उसकी जांच संकीर्ण रूप से और सचेत रूप से विस्तारपूर्वक विभिन्न और विपरीत विषयों पर अनेक पहलुओं से जैसा कि "सांविधानिक ढांचे के मूलभूत तत्वों" "संविधान के मूलभूत ढांचे", "संविधान के सारभूत और सारहीन तत्वों", "संशोधन करने की साधारण शक्ति" इत्यादि से की गई थी और अंतिम रूप से बहुमत द्वारा यह अधिकथित किया गया है कि संशोधन करने की शक्ति साधारण है और स्वयं इसके भीतर संविधान के विभिन्न अनुच्छेदों जिसमें मूल अधिकारों से संबंधित खण्ड सम्मिलित हैं, जोड़ने, प्रवृत्त करने या निरसन की शक्ति सम्मिलित है किन्तु संशोधन करने की शक्ति में संविधान के मूलभूत ढांचे या रचना को परिवर्तित करने की शक्ति सम्मिलित नहीं है जिससे कि उसकी पहचान परिवर्तित हो जाए। वस्तुतः अनुच्छेद 368 के अन्तर्गत संशोधन करने की शक्ति पर अन्तर्निहित या विवक्षित परिसीमाएं हैं।

71. अब हम याचियों और मध्यवर्तियों की ओर से किए गए विभिन्न तर्कों पर उन सभी निवेदनों की पृथक् और भिन्न विषयों के अन्तर्गत ग्रुप बना कर जांच करेंगे।

72. हमारे समक्ष सामान्य रूप से बल दिए जाने वाले प्रश्नों में से एक यह है कि संविधान निर्माताओं ने अपने विवेक से अनुच्छेद 291 में "प्रतिभूत" अथवा "आश्वस्त" शब्दों को सम्मिलित करना उचित समझा था जो अपने अत्यन्त साधारण अर्थ में संविधान के निर्माताओं के प्रतिभूति देने वाले या वचन देने वाले इस आशय को अभिव्यक्त करते हैं कि राज्यों के तत्कालीन शासक संघ के राजस्व से अपनी निजी थैलियों को प्राप्त करने के लिए हकदार होंगे और यह कि वे समस्त करों से मुक्त होंगी।

73. जैसा कि हमने ऊपर संकेत किया है, ऐतिहासिक विकास में घटनाओं का बहुमुखी अनुक्रम है, जिसने भारतीय शासकों के लिए विभिन्न करार करना आवश्यक कर दिया था और अंतिम रूप से अपने राज्यों की पृथक् शनाख्त को विघटित करके तथा अपने प्रभुत्व का समर्पण करके किन्तु निजी थैलियों और विशेषाधिकारों के लिए केवल अपने अधिकारों को आरक्षित करके भारत की डोमिनियन के साथ एकीकृत होने के लिए सहमत हो गए थे। यद्यपि भारत को भौगोलिक रूप से एक एकक के रूप में समझा जाता था फिर भी यह लगभग 554—अर्थात् बड़े और छोटे खण्डों में विभाजित था। 15 अगस्त, 1947 को ब्रिटिश प्रभुता समाप्त हो गई थी और भारत ने अपनी स्वतंत्रता प्राप्त कर ली थी। यह तथ्य कि स्वतंत्रता और स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए भारी मूल्य चुकाना पड़ा था जिसके लिए कितने शहीदों ने अपना रक्त देकर उसे पवित्रता प्रदान की थी, यह अब प्रश्न किए जाने योग्य नहीं है। स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान भारतीय राज्यों में आजादी हासिल करने की कितनी लालसा थी, जिसके परिणामस्वरूप भारत की डोमिनियन के साथ राज्यों के एकीकरण और विलयन के लिए भारी आन्दोलन हुए थे।

74. भारत सरकार के साथ राज्यों के शासकों द्वारा किए गए करार, विलयन और एकीकरण से संबंधित साधारण दस्तावेजें थीं और उन दस्तावेजों के अंतर्गत दिए गए "आश्वासन और प्रतिभूतियां" केवल निजी थैलियों के नियतिकरण तथा विशेषाधिकारों की मान्यता के लिए थे। संविधान के अंतर्गत दी गई प्रतिभूतियां और आश्वासन उन दस्तावेजों से अलग थे। संविधान के लागू होने के पश्चात् शासकों ने अपनी निजी थैलियों निजी सम्पत्तियों और विशेषाधिकारों के उस अधिकार का उपभोग केवल संविधान के बल पर किया था और दूसरे मामलों में किसी अन्य नागरिक की तरह भारत के केवल साधारण नागरिक थे। वस्तुतः यह एक ऐतिहासिक घटना है और भारतीय जनता की सहमति से उनकी संविधान सभा में घटी है।

75. अतएव यह कहना न्यायोचित नहीं हो सकता है कि शासकों को दी गई प्रतिभूतियां और आश्वासन अलंघनीय थे तथा अनुच्छेद 291 और 362 से केवल इन करारों और प्रसंविदाओं के निबंधन झलकते थे। वस्तुतः जैसे ही संविधान प्रवृत्त हुआ था, करारों का ज्ञापन निष्पादित किया गया था और राज्यों द्वारा स्वीकार किया गया था और राज्यों ने संविधान के सुसंगत अनुच्छेदों के अंतर्गत औपचारिक करार किए थे और उन करारों और प्रसंविदाओं से कोई बाध्यता संलग्न नहीं थी बल्कि यह केवल सांविधानिक उपबंधों से संलग्न थी। इसे दूसरे प्रकार से कहा जा सकता है कि संविधान में 291 और 362 के पुरःस्थापित होने के पश्चात् वे करार और प्रसंविदाएं अस्तित्व में नहीं रही थीं। इन संविदाओं और करारों के प्रति निर्देश नैमित्तिक और पूरक थे तथा बाध्यता का स्रोत केवल संविधान से मिलता था। अतएव, "प्रतिभूत" अथवा "आश्वस्त" शब्दों के प्रयोग पर बल दिए जाने के लिए दलील में कोई बल नहीं है और पूर्ण रूप से न माने जाने योग्य है।

76. अगला महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या आक्षेपित संशोधित अधिनियम द्वारा संविधान के मूलभूत ढांचे या सारभूत तत्वों को कोई हानि हुई है।

77. श्री सोली जे० सोराब जी के अनुसार अनुच्छेद 291 और 362 के निरसित करने से जो सांविधानिक स्कीम के अखण्ड भाग थे, इस संविधान की शनाख्त भी बदल गई है और उसके स्वरूप को मूल रूप से परिवर्तित कर दिया गया है। इस अनुच्छेदों को पूर्ण रूप से निरसित किया जाना तथा उसमें अंतर्विष्ट प्रतिभूतियों के अभिव्यक्तियों के परिणामस्वरूप "वह मुआविज़ाही" अकृत हो गया है जो इन प्रतिभूतियों का

[1] [1973] 2 उम० नि० प० 159 = (1973) 4 एस० सी० सी० 225.

सार था। उसने इस बात पर बल दिया कि शासकों के साथ न्याय करने का मुख्य प्रयोजन ही समाप्त कर दिया गया है और विश्वास भंग को मंजूरी दी गई है। उसने पूर्वोक्त तर्कों को इस न्यायालय के तीन विनिश्चयों अर्थात्, (1) **वामन राव** बनाम **भारत संघ**;[1] (2) **भीम सिंह जी** बनाम **भारत संघ**;[2] और (3) **माधव राव सिंधिया** बनाम **भारत संघ**[3] पर आधारित किया है।

78. एक सामान्य आवर्ती तर्क यह है कि आक्षेपित संशोधन अधिनियम संसद की सांविधानिक शक्ति से परे है क्योंकि उसने संविधान के मूलभूत ढांचे और सारभूत तत्वों को हानि पहुंचाई है।

79. श्री डी० डी० ठाकुर ने पूर्वोक्त के अतिरिक्त यह कथन किया है कि इस बात का अवधारण करने के लिए परीक्षाएं, कि क्या संविधान का उपबंध स्थायी होने के लिए आशयित था या उसका लोप या संशोधन किया जा सकता था, इस बात से पता लगाना है कि क्या संविधान निर्माताओं का आशय उसे स्थायी बनाना था। अपने इस तर्क के समर्थन में उसने **सज्जन सिंह** बनाम **राजस्थान राज्य**[4] वाले मामले में न्या० मधोलकर के मत का अधिक अवलम्ब लिया था, जिसका पाठ इस प्रकार किया जा सकता है (एस० सी० आर० पृष्ठ 966):—

> "सर्वप्रथम यह एक सत्यनिष्ठ तथा सम्मानित उद्देशिका विरचित की थी जो संविधान के सारभूत तत्वों का निचोड़ प्रतीत होती है। क्या यह नहीं कहा जा सकता है कि यह संविधान सभा द्वारा संविधान के मूलभूत तत्वों को स्थायित्व देने के लिए आशय का संकेत है।"

80. इस मत को **केशवानन्द भारती**[5] वाले मामले में न्या० हेगड़े और मुखर्जी के एक पृथक् निर्णय में यह कथन करते हुए दोहराया गया है कि न्या० मधोलकर ही थे जिन्होंने इस प्रश्न के महत्व का अनुमान लगा लिया था कि संविधान के अनुच्छेद 368 के अंतर्गत संशोधन करने की शक्ति पर कोई विवक्षित परिसीमा है या नहीं। पूर्वकथित के आधार पर उसने इस बात पर बल दिया है कि यदि संविधान के किसी उपबंध के स्थायित्व या अस्थायित्व के संबंध में संविधान निर्माताओं का आशय यह अवधारण करने के लिए निश्चायक है कि कोई उपबंध मूलभूत है या नहीं तो स्वयं अनुच्छेद 362 से संविधान निर्माताओं के आशय का पता लगाना कठिन नहीं है। उसने आगे यह भी कहा है कि यह तथ्य कि "आश्वासन और प्रतिभूतियां" भविष्य में प्रत्येक सांविधानिक अतिक्रमण या संसदीय नियंत्रण के विधायी आक्रमण के विरुद्ध की गई थी जो आगे संविधान के अनुच्छेद 291 के उपबंधों से भी स्पष्ट होता है।

81. श्री ए० के० गांगुली ने पूर्वोक्त तर्कों को अपनाया है और यह कह कर उसे संपोषित किया है कि राज्यों के शासकों के विशेषाधिकार सांविधानिक स्कीम के अखण्ड भाग बनाए गए थे और यह कि उसके द्वारा नागरिकों के एक वर्ग को ऐतिहासिक कारणों से विशेष प्रसुविधाएं प्रदान की गई हैं और यह कि शासकों को प्रदत्त स्तर के अधिकार और विशेषाधिकार की मान्यता अस्थायी आधार पर नहीं थी और इस प्रकार वे कोई फेरफार किए जाने अथवा परित्याग किए जाने के दायित्वाधीन नहीं है।

82. श्री नारीमन ने भी इस पर बल दिया था।

83. पूर्वोक्त दलीलों पर प्रकथन करने से पूर्व हम किसी संविधान को संशोधित करते हुए ध्यान में रखें जाने वाले बुनियादी सिद्धांत की बाबत संक्षेप में कथन करते हैं।

84. हमारी प्रजातंत्रात्मक पद्धति में संविधान देश की सर्वोच्च विधि है और सरकार के समस्त अंग—कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका अपनी शक्तियां और प्राधिकार संविधान से प्राप्त करते हैं। हमारे संविधान की एक प्रभेदनीय विशेषता उसकी संशोधनीयता है।

85. न्यायालयों को संविधान की सर्वोच्चता को बनाए रखने का महत्वपूर्ण सांविधानिक उत्तरदायित्व सौंपा गया है। संविधान का कोई संशोधन अविधिमान्य हो जाता है यदि वह संशोधन शक्ति पर लगाई गई सीमाओं का उल्लंघन या अतिक्रमण करता है क्योंकि संविधान से बाहर कोई आधारशिला नहीं है जिसके द्वारा उसे प्रदत्त उक्त शक्तियों के प्रयोग की विधिमान्यता की जांच की जा सकती हो।

86. हमारे संविधान में संविधान का संशोधन करने के लिए विनिर्दिष्ट उपबंध हैं। यह संशोधन केवल संविधान के अंतर्गत और के प्राधिकार द्वारा विहित पद्धतियों का कठोरतापूर्वक अनुसरण करके निश्चय ही या तो उसमें अंतर्निहित या विवक्षित परिसीमाओं के अध्यधीन किए जाने थे। उक्त शक्ति को भारत के किसी अस्पष्ट सिद्धांत द्वारा सीमित नहीं किया जा सकता है। परिसीमाओं को चित्रित करने वाले ऐसे अनेक महत्वपूर्ण निर्वाचनात्मक विनिश्चय है जिससे कि सांविधानिक ढांचे को कोई चोट या नुकसान न पहुंच सके। वह संशोधन जो एक परिवर्तन या परिवर्धन है, केवल संविधान को अधिक पूर्ण, प्रभावी और भावपूर्ण बनाने के प्रयोजन के लिए है। किन्तु साथ ही साथ संविधान के किसी उपबंध का संशोधन करने वाली प्रक्रिया पर भी ध्यान रखना चाहिए जिससे उसके परिणामस्वरूप उसके मूलभूत ढांचे का निराकरण या विनाश न हो अथवा उसकी मूल शनाख्त को हानि न पहुंचे और संविधान अव्यावहारिक न हो जाए। न्यायालय का संबंध सांविधानिक संशोधन के पीछे छुपी हुई बुद्धिमत्ता अथवा औचित्य के साथ नहीं है क्योंकि ये मामले उनके विचार करने के लिए हैं जिनमें सांविधानिक संशोधन करने का प्राधिकार निहित किया गया है। वह सभी जिसके साथ न्यायालय सम्बद्ध हैं, इस प्रकार हैं— (1) क्या अनुच्छेद 368 द्वारा विहित प्रक्रिया का कठोरतापूर्वक अनुपालन किया गया है? और (2) संशोधन द्वारा संविधान के मूलभूत ढांचे अथवा सारभूत तत्वों का विनाश हुआ है या हानि पहुंची है?

---

[1] [1981] 4 उम० नि० प० 543 = (1980) 3 एस० सी० सी० 587.

[2] [1981] 4 उम० नि० प० 288 = (1981) 1 एस० सी० सी० 166.

[3] [1971] 1 उम० नि० प० 491 = (1971) 1 एस० सी० सी० 85 = [1971] 3 एस० सी० आर० 9.

[4] [1965] 1 एस० सी० आर० 933 = ए० आई० आर० 1965 एस० सी० 845.

[5] [1973] 2 उम० नि० प० 159 = (1973) 4 एस० सी० सी० 225.

87. यदि कोई संशोधन अपनी परिसीमाओं का उल्लंघन करता है और संविधान के मूलभूत ढांचे या सारभूत तत्वों का ह्रास करता है अथवा उपांतरित करता है तो न्यायालय के पास उस संशोधन को अकृत करने की शक्ति है। मूलभूत ढांचे के सिद्धांत की उत्पत्ति **सज्जन सिंह**[1] वाले मामले में हुई थी और तत्पश्चात् इस न्यायालय द्वारा अनेक मामलों में अर्थात् (1) **केशवानन्द भारती**[2], (2) **इंदिरा नेहरू गांधी**[3], (3) **मिनर्वा मिल्स**[4], (4) **वामन राव**[5], (5) **संजीव कोक मैन्यू० कंपनी** बनाम **भारत कोकिंग कोल लिमिटेड**[6] वाले मामलों में उसे विकसित किया गया है।

88. श्री सोली जे० सोराबजी ने अपनी इस दलील के समर्थन में कि अनुच्छेद 291 और 362 तथा अनुच्छेद 366 का खण्ड (22) सांविधानिक स्कीम के अखण्ड भाग थे जिसका अन्यथा अर्थ वैबस्टर की न्यू इंटरनेशनल डिक्शनरी, तृतीय संस्करण और कोलिन्स कन्साइज़ डिक्शनरी में निर्दिष्ट हैं, "सांविधानिक स्कीम का आवश्यक भाग होगा" और यह संकेत किया गया है कि इस शब्द के शब्दकोशीय अर्थ में "अखण्ड" से "आवश्यक" अभिप्रेत है और इसलिए उसके अनुसार संविधान के उन उपबंधों को पूर्ण रूप से समाप्त करने से—जो उसके अखण्ड भाग, अन्यथा आवश्यक भाग हैं,—संविधान की आवश्यक और सारभूत तत्वों को हानि हुई है। अपने इस तर्क को बल देने से पहले उसने न्या० शाह द्वारा **माधव राव**[7] वाले निर्णय में अभिव्यक्त किए गए मतों का यह मत व्यक्त करते हुए अवलम्ब लिया था, "संविधान के अनुच्छेद 366(22), 291 और 362 में अधिनियमित उपबंधों द्वारा शासकों के विशेषाधिकार सांविधानिक स्कीम के अखण्ड भाग बनाए गए हैं" और किसी शासक की मान्यता न देने वाला कोई आदेश मात्र शासकता की संस्था के जारी रखने के लिए कोई उपबंध किए बिना जो सांविधानिक स्कीम का एक भाग है, अथवा स्पष्ट शब्दों में अविधिमान्य है।

89. विद्वान महान्यायवादी ने यह कथन करते हुए पूर्वोक्त दलील का जोरदार विरोध किया है कि **माधव राव**[7] वाले मामले में कही गई "सांविधानिक स्कीम का अखण्ड भाग" अभिव्यक्ति (वह नहीं है जो मूलभूत ढांचा है और यह कि उस अभिव्यक्ति) का पाठ उस अध्यादेश को आक्षेपित करने के संदर्भ में किया जाना है जिसके द्वारा तत्समय वर्तमान संविधान में प्रतिभूत अधिकारों को निरर्थक करने की याचना की गई थी। आगे यह कथन किया गया है कि **माधव राव**[7] वाले मामले में अधिकथित सिद्धांतों पर आधारित छब्बीसवें संशोधन पर आक्रमण करना भ्रांतिपूर्ण है क्योंकि उस निर्णय के प्रभाव को नियंत्रित करने के उद्देश्य से ही छब्बीसवां संशोधन संसद द्वारा अपनी सांविधानिक शक्तियों का प्रयोग करते हुए पारित किया गया था। महान्यायवादी के अनुसार उक्त मामले में अभिव्यक्त किए गए मत संशोधन द्वारा अकृत हो गए थे और वह निर्णय संशोधन के पश्चात् उपयुक्त विधि नहीं रह गया है। उस निर्णय के आधार पर संशोधन की जांच करना अननुज्ञेय और इस मामले पर आधारित सभी तर्क अतएव भ्रांतिपूर्ण हैं।

90. इस संदर्भ में उन कतिपय घटनाओं पर ध्यान देना आवश्यक हो गया है जिनके द्वारा अंतिम रूप से **माधव राव सिंधिया**[1] वाले मामले की उत्पत्ति हुई थी।

91. संविधान का प्रारम्भ होने के पश्चात् अनुच्छेद 366(22) के अनुसरण में शासकों को मान्यता दी गई थी और वे सुसंगत सांविधानिक उपबंधों के आधार पर निजी थैलियों, विशेषाधिकारों, गरिमाओं, इत्यादि का उपभोग कर रहे थे। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी द्वारा 1967 में पारित संकल्प के अनुसरण में भारत संघ ने 24वें संशोधन अध्यादेश, 1970 में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के विनिश्चय को निजी थैलियों और विशेषाधिकारों इत्यादि के समाप्त करने का पक्ष लेते हुए लागू करने के लिए पुरःस्थापित किया था। किन्तु यह विधेयक यद्यपि लोक सभा में पारित हो गया था पर राज्य सभा में अपेक्षित बहुमत सुनिश्चित करने में असफल हो गया था जिसके कारण व्यपगत हो गया था। इसके पश्चात् ही भारत के राष्ट्रपति ने अनुच्छेद 366(22) के अंतर्गत उसमें निहित शक्तियों का प्रयोग करते हुए शासकों की मान्यता समाप्त करने वाला और शासकों द्वारा उपभोग की जाने वाली निजी थैलियों, विशेषाधिकारों, इत्यादि को बन्द करने वाला एक आदेश जारी किया था। राष्ट्रपति द्वारा पारित यह आदेश **माधव राव सिंधिया**[1] वाले मामले में आक्षेप की विषय-वस्तु था। उच्चतम न्यायालय ने राष्ट्रपति के आदेश को अविधिमान्य होने के रूप में अभिखंडित कर दिया था क्योंकि न्यायालय के विचार में शासकों की मान्यता समाप्त करना निजी थैलियों के अधिकार को वापस नहीं लेगा जबकि अनुच्छेद 291 और 362 संविधान में थे। केवल उसी संदर्भ में वे मत जिनका अवलम्ब श्री सोली जे० सोराबजी द्वारा लिया गया था, अभिव्यक्त किए गए थे। छब्बीसवां संशोधन अधिनियम स्वयं संसद द्वारा इस निर्णय के प्रभाव को नियंत्रित करने के लिए पारित किया गया था। अब इस संशोधन द्वारा अनुच्छेद 291 और 362 का लोप किया गया है। अनुच्छेद 363-क अंतःस्थापित किया गया है और अनुच्छेद 366 का खण्ड (22) संशोधित किया गया है। अतएव किसी को यह कहने की अनुमति नहीं दी जा सकती है कि पूर्वोक्त लुप्त अनुच्छेद और असंशोधित खण्ड सांविधानिक स्कीम के मूल तत्व थे। इस प्रकार उनका पाठ केवल राष्ट्रपति के आदेश के लिए किए गए आक्षेप के संदर्भ में किया जाना है जिसके द्वारा संविधान में उस समय वर्तमान कतिपय प्रतिपादित अधिकारों को अमान्य करने के लिए याचना की गई थी। किसी भी दशा में अनुच्छेद 363

---

[1] [1965] 1 एस० सी० आर० 933 = ए० आई० आर० 1965 एस० सी० 845.
[2] [1973] 2 उम० नि० प० 159 = (1973) 4 एस० सी० सी० 225.
[3] [1976] 1 उम० नि० प० 1 = (1975) सप्ली० एस० सी० सी० 1.
[4] [1981] 3 उम० नि० प० 146 = [1981] 1 एस० सी० आर० 206 = (1980) 3 एस० सी० सी० 625.
[5] [1981] 4 उम० नि० प० 543 = (1980) 3 एस० सी० सी० 587.
[6] (1983) 1 एस० सी० सी० 147.
[7] [1971] 1 उम० नि० प० 491 = (1971) 1 एस० सी० सी० 85 = [1971] 3 एस० सी० आर० 9.

[1] [1971] 1 उम० नि० प० 491 = (1971) 1 एस० सी० सी० 85 = [1971] 3 एस० सी० आर० 9.

का सांविधानिक वर्जन शासकों द्वारा निष्पादित परिसंविदाओं और संधियों से उद्भूत होने वाले विवादों में किसी न्यायालय की अधिकारिता को निराकृत करता है। छब्बीसवें संशोधन के उद्देश्यों और कारणों के कथन से स्पष्ट रूप से यह संकेत मिलता है कि पूर्वोक्त अनुच्छेदों को बनाए रखना और विशेषाधिकारों और निजी थैलियों का जारी रखना संविधान में आश्वस्त समतावादी समाज के बेमेल होगा और इसलिए शासकता की धारणा को दूर करने और शासकों को मंजूर की गई मान्यता को समाप्त करने और निजी थैलियों का उत्सादन करने के उद्देश्य से यह संशोधन आवश्यक समझा जाने के कारण लाया गया था।

92. हमारी राय यह है कि माधव राव[1] वाले मामले में न्या० शाह का यह मत कि "शासकों के विशेषाधिकार सांविधानिक स्कीम के समग्र भाग बनाए गए हैं और यह कि "शासकता की संस्था"—सांविधानिक स्कीम का एक समग्र भाग है, समुचित संदर्भ में समझे जाने चाहिए। वह एक ऐसा मामला था जहां राष्ट्रपति के एक आदेश द्वारा शासकों को संविधान में अनुच्छेद 291 और 362 कायम रखते हुए उनकी निजी थैलियों और अन्य विशेषाधिकारों से वंचित किया गया था। निश्चयं ही उक्त राष्ट्रपति का आदेश सरकार के उन्हीं आधारों पर एक संशोधन को प्रभावी करने के अपने प्रयास में असफल होने के पश्चात् जारी किया गया था। यह उस संबंध में ही है कि विद्वान न्यायाधीश ने पूर्वोक्त मत अभिव्यक्त किए थे। यह स्पष्ट है कि विद्वान न्यायाधीश ने "समग्र भाग" शब्दों का प्रयोग उनके साधारण अर्थ में—न कि किसी शब्दकोशीय अर्थ में किया था। साधारण बोलचाल में "समग्र" से कोई समष्टि या किसी समष्टि की पूर्णता के लिए आवश्यक और "समष्टि विरचित करने वाले" (दी कन्साइज़ आक्सफोर्ड डिक्शनरी) के रूप में अभिप्रेत है। हमारा संविधान एक असंयोजित दस्तावेज़ नहीं है। इसमें एक विशेष सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक दर्शनशास्त्र सम्मिलित है। यह एक समग्र एकक है। इसके सभी उपबंध—उसके समग्र भाग हैं। भाग 21 "अस्थायी संक्रमणकालीन और विशेष उपबंधों में अंतर्विष्ट उपबंध भी इसके अखण्ड भाग हैं। कोई भी यह पूछ सकेगा कि संविधान में कौन-सा उपबंध कौन-सी धारणा अथवा कौन-सी संस्था संविधान का एक अखण्ड भाग नहीं है। उसे कोई उत्तर नहीं मिलेगा। यह कहना कि कोई विशिष्ट उपबंध अथवा कोई विशिष्ट "संस्था" या धारणा संविधान का एक समग्र भाग है, यह कहना नहीं है कि वह संविधान का एक सारभूत तत्व है। ये दोनों पूर्ण रूप से भिन्न और गुणात्मक रूप से अलग धारणाएं हैं। उक्त तर्क वास्तविक रूप से किसी निर्णय को एक स्टेट्यूट के रूप में पढ़ने के प्रयास की शक्ल में उत्पन्न हुआ है। कोई भी ऐसा करके किसी विनिश्चय के सही अर्थ को खो देगा। हम कह सकेंगे कि न्या० शाह के पूर्वोक्त मत मूलभूत ढांचे से संबंधित याची के तर्क का आश्रय गठित करते हैं।

93. पूर्वोक्त आधारभूमि में माधव राव[1] वाले मामले में अभिव्यक्त किए गए मतों के प्रति निर्देश से छब्बीसवें संशोधन की परीक्षा करना अनुज्ञेय नहीं है।

94. अब हम 1972 की रिट याचिका संख्या 351 के आधारों पर उठाई गई इस दलील का निपटारा करेंगे कि आक्षेपित संशोधन, संविधान के अनुच्छेद 14, 19(1)(च) और (छ), 21, 31 (1) और (2) के प्रतिकूल है। अभिव्यक्त रूप से यह दलील वर्ष 1972 में उठाई गई है जो 1978 के संविधान (चवालीसवें संशोधन) अधिनियम के बहुत पूर्व की है जो 26 जून, 1979 को पारित हुआ था। 1992 की रिट याचिका संख्या 798, 15 अक्तूबर, 1992 को फाइल की गई थी जिसमें अनुच्छेद 19(1)(च) और 31 के संबंध में आधार छूट गए हैं। यह कथन किया जाना है कि अनुच्छेद 19(1)(च) और 31 का 44वें संशोधन द्वारा पूर्ण रूप से लोप कर दिया गया था। 44वें संशोधन द्वारा इन अनुच्छेदों के लोप के कारण "सम्पत्ति के अधिकार" का स्तर एक मूल अधिकार से घटाकर अनुच्छेद 300-क के अंतर्गत उक्त विधिक अधिकार का कर दिया गया है, जिसका पाठ इस प्रकार किया जा सकता है, "किसी व्यक्ति को उसकी सम्पत्ति से विधि के प्राधिकार द्वारा ही वंचित किया जाएगा अन्यथा नहीं।" तथापि, तत्कालीन अनुच्छेद 31 में प्रतिभूत उस अधिकार के संबंध में अल्पसंख्यकों के डरों को कम करने के उद्देश्य से चवालीसवें संशोधन द्वारा अनुच्छेद 30(1-क) अंतःस्थापित किया गया है।

95. सम्पत्ति का अधिकार एक मूल अधिकार के रूप में भी मूलभूत ढांचे का एक भाग नहीं था और यह उपधारणा करते हुए भी कि निजी थैली के लिए अधिकार एक सम्पत्ति है, यह अनुच्छेद 300-क के अनुसार विधि के प्राधिकार द्वारा समाप्त किए जाने योग्य होने वाला एक अधिकार है। इस बात पर बल देने की ज़रूरत नहीं है कि केशवानन्द भारती[1] वाले मामले में अधिकथित नियमों के अनुसार मूल अधिकार को भी संशोधित अथवा परिवर्धित किया जा सकता है यदि संविधान के मूलभूत ढांचे को किसी प्रकार से कोई हानि नहीं होती है।

96. निजी थैली और विशेषाधिकारों का स्थायी रूप से बनाए रखना प्रभुत्वसम्पन्न और लोकतंत्रात्मक प्ररूप की सरकार के बेमेल होगा। ऐसा बनाए रखना हमारे संविधान के समतावादी प्ररूप के साथ भी बेमेल होगा। यह संसद की राय है जिसने अपनी सांविधामिक शक्ति का प्रयोग करके पूर्वोक्त उपबंधों को निरसित किए जाने के लिए कार्य किया था। निजी थैली, विशेषाधिकारों, गरिमाओं इत्यादि के अधिकार का, अनुच्छेद 291 और 362 का लोप करके परित्याग, अनुच्छेद 363-क का अंतःस्थापन और अनुच्छेद 366 के खण्ड (22) का संशोधन जिसके द्वारा शासकों की मान्यता और निजी थैली का संदाय वापस लिया गया था, यह नहीं कहा जा सकता है कि इसके द्वारा अनुच्छेद 14 अथवा 19 (छ) [यथामुद्रित 19 (1) (च)] का अतिक्रमण किया गया है और हम इस तर्क में कोई औचित्य नहीं पाते हैं। न्याय के किसी सिद्धांत का न तो आर्थिक, राजनैतिक या सामाजिक, छब्बीसवें संशोधन द्वारा उल्लंघन किया गया है। राजनैतिक न्याय, व्यक्तियों के अधिकारों के सिद्धांत अर्थात् सर्वव्यापी मताधिकार के अधिकार राज्य के प्रजातंत्रात्मक प्ररूप के अधिकार और राजनैतिक मामलों में भाग लेने के अधिकार से संबंधित है। आर्थिक न्याय संविधान के अनुच्छेद 39 में अंतर्विष्ट है। सामाजिक न्याय अनुच्छेद 38 में अंतर्विष्ट है। ये दोनों संविधान

[1] [1971] 1 उम० नि० प० 491=(1971) 1 एस० सी० सी० 85 = [1971] 3 एस० सी० आर० 9.

[1] [1973] 2 उम०नि०प० 159 = (1973) 4 एस० सी० सी० 225.

के निदेशक सिद्धांतों में हैं। इन अधिकारों में से किसी का इस संशोधन द्वारा अतिक्रमण या उपांतरण नहीं किया गया है। हम यह महसूस करते हैं कि इस दलील पर हमें और विचार नहीं करना चाहिए अतएव हम अगले विवाद्यक प्रश्न पर विचार करेंगे।

97. एक गम्भीर तर्क यह दिया गया है कि निजी थैली भारतीय राज्यों के शासकों के लिए उनके अपने राज्यक्षेत्रों पर उनकी सत्ता और अधिकारों का समर्पण करने के लिए मात्र एक मुआवज़ा था और एकीकरण के लिए यह कार्य एक प्रत्यक्ष वचन-पत्र पर आरम्भ किया गया था किन्तु शीघ्र ही यह चालबाजी के एक खेल में संभवतः धोखाधड़ी की एक योजना अथवा कार्यवाही में परिवर्तित हो गया। सत्यनिष्ठ प्रतिज्ञाओं के तोड़ने और वचन को भंग करने पर आधारित तर्क की अधिक संवीक्षा नहीं की जा सकती है। यह कहना कि स्वेच्छात्मक अधिमिलन के बिना इंडिया अर्थात् भारत मूल रूप से उस भारत से भिन्न होता जो अधिमिलन से पूर्व था। अमान्य होने से कहीं अधिक अकाल्पनिक है। हम इस निर्णय के पूर्ववर्ती भाग में भारत की डोमीनियन के साथ राज्यों के एकीकरण के लिए शासकों के रज़ामन्द होने की आवश्यकता पर पहले ही विचार कर चुके हैं और इसलिए इस संदर्भ में के सिवाय यह कहना कि एकीकरण अन्यथा भी प्राप्त किया जा सकता था, उसे दोहराना अत्यन्त अनावश्यक है। किसी को भी इस तथ्य को नज़रअन्दाज़ नहीं करना चाहिए कि न तो शासकों के प्रति उनके वैर-भाव के कारण न ही किसी द्वेष के कारण भारतीय सरकार ने एकीकरण का विचार अपनाया था बल्कि यह लोगों की इच्छा के कारण अपनाया गया था। यह राज्यों के व्यक्ति ही थे जो आधारिक रूप से भारत के एकीकरण में सहायक हुए थे। **वीरेन्द्र सिंह** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य**[1] में न्या॰ बोस के मतों के प्रति निर्देश करना उपयुक्त होगा। उक्त मत का पाठ इस प्रकार किया जा सकता है:—

> "प्रभुत्ता का प्रत्येक अवशेष भारत की डोमीनियन द्वारा और राज्यों द्वारा त्याग दिया गया था तथा देश के लोगों को समर्पित कर दिया गया था जिन्होंने संविधान सभा में अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से अपने लिए एक नया संविधान परिश्रम से तैयार किया जिसमें एक नई व्यवस्था में सभी नागरिक थे किन्तु बंधन एक था और एक ही निष्ठा: भक्ति, वफादारी, श्रद्धा, प्रभुत्वसम्पन्न लोकतंत्रात्मक प्रजातंत्र के प्रति जो भारत है रखते थे।"

98. राज्यों के एकीकरण की ऐतिहासिक प्रक्रिया के प्रति भी ध्यान देना लाभप्रद होगा जिसका सु-उपवर्णन बी॰ शिवा राव द्वारा लिखित—दी फ्रेमिंग ऑफ इंडियाज़ कांस्टीट्यूशन—ए स्टडी के अध्याय 18 में भारतीय राज्य शीर्षक के अन्तर्गत किया गया है। उस अध्याय का परिशीलन यह उपदर्शित करता है कि संयुक्त भारत में सम्मिलित होने के लिए राजकुमारों का रवैया अवरोध, हिचक और भारी सौदेबाजी वाला था और यह राज्यों के व्यक्ति ही थे जिन्होंने उन्हें नए एकीकृत भारत को स्वीकार करने के लिए मजबूर किया था। दूसरे शब्दों में यह कहना कि राज्य आंतरिक और बाह्य दोनों ओर से उन पर पड़ने वाले दबाव और बल के कारण मुक्त थे किन्तु स्थिर नहीं थे। यद्यपि एकीकरण और प्रजातंत्रीकरण की प्रक्रिया सरदार पटेल के शब्दों में "संघीकरण" के रूप में कहलाई गई थी जो विभिन्न प्रक्रमों पर, बहुमुखी शक्तियों जैसे कि राजनैतिक, आर्थिक और भौगोलिक द्वारा पग-पग करके की गई थी इससे अधिक राज्यों के भीतर प्रजातंत्रात्मक आन्दोलनों ने एकीकरण की प्रक्रिया को बढ़ावा दिया था। अतएव यह कहना गलत है कि शासकों ने बलिदान दिए जिसके लिए उन्हें प्रतिकर मात्र दिए गए थे और निज़ी थैलियों के स्थायी संदाय के लिए आश्वस्त किया गया था। शासकों को जो कुछ दिया गया था, वह एक राजनैतिक पेंशन थी जैसा कि **उस्मान अली**[1] वाले मामले में उनकी गत स्थिति पर विचार करते हुए ठीक ही संकेत किया गया था। अतः शासकों को दिए गए सत्यनिष्ठ प्रतिज्ञाओं को तोड़ने अथवा वचन इत्यादि को भंग करने का कोई प्रश्न नहीं है। अतएव उसका परित्याग करने को यह नहीं कहा जा सकता है कि उन प्रतिभूतियों और वचनों का कोई भंग करने के समान है जिनके परिणामस्वरूप संविधान के मूलभूत ढांचे में कोई परिवर्तन हुआ हो।

99. श्री डी॰ डी॰ ठाकुर ने यह तर्क किया है कि छब्बीसवां संशोधन अधिनियम भारतीय संसद द्वारा लिया गया अनैतिकता का एक घृणित निष्कर्ष है और वह भी सांविधानिक शक्तियों का प्रयोग करते हुए और यह कि न्याय, निष्पक्षता और युक्तियुक्तता मूल रूप से यथाविरचित भारत के संविधान की आत्मा, भाव और तत्व है और यह कि आक्षेपित संशोधन अधिनियम उस आत्मा पर एक अपवित्र आघात है जो अननुज्ञेय है और संविधान के अनुच्छेद 368 के अंतर्गत संसद की संशोधन करने की शक्तियों से परे है। उसके अनुसार समानता खण्ड जैसा कि **मेनका गांधी** बनाम **भारत संघ**[2], **आर॰डी॰ शेट्टी** बनाम **इन्टरनेशनल एयरपोर्ट अथारिटी ऑफ इंडिया**[3], **कस्तूरी लाल लक्ष्मी रेड्डी** बनाम **जम्मू-कश्मीर राज्य**[4], **ई॰पी॰ रोयप्पा** बनाम **तमिलनाडु राज्य**[5], **इंदिरा गांधी वाला मामला**[6], **मिनर्वा मिल वाला मामला**[7] में इस न्यायालय द्वारा निर्वचन किया गया था संविधान की अत्यन्त महत्वपूर्ण और अनिवार्य विशेषता है और जिसका विनाश संविधान के मूलभूत ढांचे को परिवर्तित करने के समान होगा।

100. श्री हरीश साल्वे ने पूर्वकथित के अलावा इस बात पर बल दिया था कि मूलभूत ढांचे का परीक्षण संविधान की उस आधारशिला पर लागू किया जाना है जैसा वह संविधान निर्माताओं के हाथों से परिदत्त किए जाने के समय था और यह कि मूल संविधान के "स्वरूप की जांच" का

---

[1] [1955] 1 एस॰ सी॰ आर॰ 415, = ए॰ आई॰ आर॰ 1954 एस॰ सी॰ 447.

[1] (1965) 3 एस॰ सी॰ आर॰ 201 = ए॰ आई॰ आर॰ 1965 एस॰ सी॰ 1798.

[2] [1979] 1 उम॰ नि॰ प॰ 243 = 1 [1978] 2 एस॰ सी॰ आर॰ 621-(1978) 2 एस॰ सी॰ सी॰ 248

[3] (1979) 3 एस॰ सी॰ सी॰ 489.

[4] (1980) 4 एस॰ सी॰ सी॰ 1 = [1980] 3 एस॰ सी॰ आर॰ 1338.

[5] [1974] 2 एस॰ सी॰ आर॰ 348 (1974) 4 एस॰ सी॰ सी॰ 3 = (1974) एस॰ सी॰ सी॰ (एल॰ एंड एस॰) 165.

[6] [1976] 1 उम॰ नि॰ प॰ 1 = 1975 सप्ली॰ एस॰ सी॰ सी॰ 1.

[7] [1981] 3 उम॰ नि॰ प॰ 146= [1981] 1 एस॰ सी॰ आर 206 = (1980) 3 एस॰ सी॰ सी॰ 625.

अवधारण करते समय कोई व्यक्तिगत विचार या सैद्धांतिक पक्षपात को लागू करना मूलभूत ढांचे के सिद्धांत के ही प्रतिकूल होगा। आगे उसने यह कथन किया था कि संविधान का स्वरूप आक्षेपित संशोधन के कारण गुम हो गया है।

101. इस तर्क के संबंध में कि यह संशोधन भारतीय संसद द्वारा किया गया अनैतिकता का एक घृणित निष्कर्ष है, इसका विद्वान महा-न्यायवादी द्वारा गम्भीरतापूर्वक विरोध किया गया था। अनैतिकता पर आधारित इस तर्क के लिए केवल यह कहा जा सकता है कि उसे रद्द किया जाना चाहिए और यह कि न्यायशास्त्र का यह एक प्रारम्भिक सिद्धांत है कि किसी विधि का निर्वचन नैतिकता के सिद्धांतों पर नहीं किया जा सकता है। इस संबंध में डायस द्वारा लिखित जूरिसप्रूडेंस, 5वां संस्करण, पृष्ठ 355 और 356 में निम्नलिखित पैरे के प्रति निर्दिष्ट किया जा सकेगा। उसका पाठ इस प्रकार किया जा सकता है:—

> "एक प्रत्यक्षवादी के रूप में प्रोफेसर हार्ट विधि की धारणा से नैतिकता को अलग करता है क्योंकि उसका कहना है कि प्रत्यक्षवादी—उन विशेष विधियों के अस्तित्व द्वारा जो नैतिक रूप से असमान थीं क्योंकि समुचित प्ररूप में, स्पष्ट अर्थ में अधिनियमित की गई थीं, उठाए गए सैद्धांतिक और नैतिक विवाद्यकों के विरचित करने में स्पष्टतः और ईमानदारी तथा किसी पद्धति की विद्यमान्यता के सभी अभिस्वीकृत मानदंड की तुष्टि करते हैं। उनका मत यह था कि ऐसी विधियों की बाबत विचार करने में सिद्धांतवादी और दुर्भाग्यपूर्ण अधिकारी या प्राइवेट नागरिक जिन्हें उन्हें लागू करने या उनका अनुपालन करने के लिए कहा गया था, "विधि" या "विधिमान्यता" के हक से इनकार करने के लिए निमंत्रण से केवल निष्कर्षहीन हो जाएंगे। उनका विचार यह था कि इन समस्याओं का सामना करने के लिए सरल, अधिक निष्पक्ष स्रोत उपलभ्य थे जो प्रत्येक सुसंगत बुद्धिमत्तापूर्ण और नैतिक विचार को अधिक अच्छे तरीके से सामने ला सकते; हमें यह कहना चाहिए "यह विधि है किन्तु यह लागू किए जाने के लिए अथवा अनुपालन किए जाने के लिए अत्यन्त अन्यायपूर्ण है।"

इस अध्याय के आरम्भ में ही यह संकेत किया गया था कि विधि की किसी प्रत्यक्ष धारणा के लिए सर्वप्रथम जरूरत उन विधियों के वर्तमान व्यावहारिक प्रयोजनों की संक्षेप में शनाख्त करनी है और यह कि सीमित प्रयोजन के लिए यह वांछनीय है कि "है" को "होना चाहिए" से पृथक् किया जाए। इसे पूरा करने के लिए "विधि" शब्द के प्रयोगों की उससे अधिक आवश्यकता प्रतीत नहीं होगी जो न्यायालयों द्वारा की गई है; जो ऊपर संकेत की जाने वाली साल्मंड की परिभाषा में आती है। प्रोफेसर हार्ट की धारणा तथापि "विधिक पद्धति" की है जो एक निरन्तर प्रतिभास है..... । जब प्रोफेसर हार्ट एक अटूट क्रम में सोचता है क्योंकि वह समाज के साथ कार्य करता है, इसलिए उसे नैतिकता लानी होती है; किन्तु प्रत्यक्षवाद की प्रतिरक्षा करने के उद्देश्य से वह आधार बदलता है और वर्तमान समय के ढांचे में आश्रय लेता है; क्योंकि केवल इसी तरीके से वह यहां और अब विधियों की शनाख्त करने के प्रयोजनार्थ नैतिकता के अपवर्जन को न्यायोचित ठहरा सकता है। इस प्रकार उसकी विधि की धारणा और उसके पृथक्वाद के बीच इतना बड़ा पृथक्करण प्रतीत होगा जो उसने विधि और नैतिकता के बीच कभी अभिकथित नहीं किया है। "विधियों" की शनाख्त करने के सीमित प्रयोजन के लिए उससे अधिक करना है, जितनी आवश्यकता है, किसी अटूट क्रम में विधि को अभिव्यक्त करने के प्रयोजनार्थ वह अधिक आगे नहीं जाता है।

102. बैंथम ने अपनी थ्योरी आफ लेजिसलेशन, अध्याय XII, पृष्ठ 60 पर इस प्रकार कहा थाः—

> "सामान्य रूप से नैतिकता मनुष्यों के कार्यों को एक ऐसे रास्ते पर निदेशित करने की कला है जिससे कि अच्छाई अधिकतम संभाव्य मात्रा में उत्पन्न हो सके। विधि का भी यथार्थ रूप से वही उद्देश्य होना चाहिए। किंतु हालांकि इन दोनों कलाओं अथवा विज्ञानों का एक ही उद्देश्य है, फिर भी उनका विस्तार बहुत अधिक भिन्न है। सभी कृत्य चाहे सार्वजनिक हों या निजी नैतिकताओं की अधिकारिता के भीतर आते हैं। यह एक मार्गदर्शक है जो व्यष्टि को उसके जीवन के समस्त ब्यौरों, उसके सभी साथियों के साथ उसके संबंधों के माध्यम से उस ओर ले जाता है जहां उसे जाना चाहिए था। विधान यह नहीं कर सकता है, और यदि यह कर सकता था तो इसे मनुष्यों के आचरण पर एक निरन्तर हस्तक्षेप और आज्ञापन का प्रयोग नहीं करना चाहिए था। नैतिकता प्रत्येक व्यष्टि को वह सभी करने का समादेश देती है जो समुदाय के लिए लाभदायी है, जिसमें उसका अपना व्यक्तिगत लाभ सम्मिलित है। किन्तु समुदाय के लिए ऐसे अनेक लाभप्रद कार्य हैं जिनके लिए विधानमंडल को समादेश नहीं देना चाहिए। अनेक घातक कार्य भी हैं जिन्हें उसे रोकना नहीं चाहिए हालांकि नैतिकता ऐसा करती है। एक शब्द में विधान का वही केन्द्र है जो नैतिकता का है किन्तु उसकी परिस्थितियां वैसी नहीं हैं।"

103. **कृष्ण कुमार** बनाम **भारत संघ**[1] के प्रति भी निर्देश किया जा सकेगा।

104. पूर्वोक्त पैरा हमें विधि और नैतिकता के बीच प्रभेदीकरण तथा उस सीमा-रेखा का ध्यान दिलाता है जो नैतिकताओं को विधान से पृथक् करती है। इसका सार और तत्व यह है कि किसी नैतिक बाध्यता को एक विधिक बाध्यता में परिवर्तित नहीं किया जा सकता है।

105. पूर्वोक्त सिद्धांत के प्रकाश में महान्यायवादी का यह कहना ठीक है कि न्यायालय नैतिकता से विरले ही सम्बद्ध होते हैं जो विधि निर्माताओं की चिन्ता है।

---

[1] (1990) 4 एस० सी० सी० 207 = 1991 एस० सी० सी० (एल एंड एस) 112 = (1990) 14 ए० टी० सी० 846.

106. उसके अनुसार यह संशोधन लाने में कोई अयुक्तियुक्तता, निष्पक्षता तथा बेईमानी नहीं है या किसी प्रकार से संविधान के बुनियादी तत्वों को क्षतिग्रस्त करना नहीं है और इस संशोधन में सम्पूर्ण सांविधानिक स्कीम पर आच्छादित युक्तियुक्तता तथा मनमानेपन की धारणा को कोई नुकसान कारित नहीं किया है।

107. संविधान की सम्पूर्ण स्कीम और अन्तर्वस्तु का गहराई से विचार करने पर हम पूर्वोक्त तर्कों में कोई बल नहीं पाते हैं। प्रस्तुत मामले में छब्बीसवें संशोधन के कारण उसके स्वरूप में परिवर्तन होने का कोई प्रश्न नहीं है। अनुच्छेद 291 और 362 के हटाए जाने से संविधान के स्वरूप में न ही उसकी स्कीम अथवा उसके बुनियादी तत्वों में अथवा उसके आधार भूत प्रारूप या इसकी प्रकृति में कोई परिवर्तन हुआ है। पहचान का प्रश्न केवल वहां उठेगा जहां संविधान के प्रारूप, स्वरूप और अन्तर्वस्तु में कोई परिवर्तन किया गया हो। वस्तुतः प्रस्तुत मामले में संविधान की शनाख्त रिट याचियों और मध्यवर्तियों के काउन्सेल द्वारा प्रस्थापित परीक्षणों पर भी वैसे ही तथा अपरिवर्तित बनी रहती है।

108. श्री आर०एफ० नारीमन ने यह दलील दी है कि एक वर्ग विरचित करने वाले तत्कालीन राजाओं और भारत के शेष नागरिक वर्ग के बीच "यथार्थ और वास्तविक" प्रभेदीकरण दूर करके सांविधानिक संशोधन ने एक ही बार में संविधान के मूलभूत ढांचे का उल्लंघन किया था जैसा कि अनुच्छेद 14 और 51(ग) दोनों से अभिव्यक्त होता है और असमान को समान के रूप में बरता था जिसके द्वारा एक निष्ठापूर्ण संधि की बाध्यता को जिसे एक स्वतंत्र सांविधानिक प्रतिभूति के रूप में श्रद्धा दी गई थी, नज़रअन्दाज़ कर दिया था। उसने अपने पूर्वोक्त तर्क के समर्थन में **मोहम्मद उस्मान** बनाम **आन्ध्र प्रदेश राज्य**[1] और **रमेश प्रसाद सिंह** बनाम **बिहार राज्य**[2] में विनिश्चयों से बल प्राप्त किया है।

109. पूर्वोक्त विनिश्चयों पर सावधानी से विचार करने के पश्चात् जो सेवा के मामलों से संबंधित हैं, हमें इस बात का भय है कि कोई ऐसा तर्क जो श्री नारीमन द्वारा दिया गया है, इन दो विनिश्चयों में अधिकथित सिद्धांतों पर सिद्ध किया जा सकता था कि अनुच्छेद 14 का उल्लंघन होगा यदि असमान को समान के रूप में बरता गया। हमारे विचारित मत के अनुसार यह तर्क भ्रांतिपूर्ण है तथा प्रस्तुत मामले के तथ्यों से सुसंगत नहीं है। हमारे संविधान की उद्देशिका के उद्देश्यों में से एक "व्यक्ति की गरिमा के लिए आश्वस्त करते हुए बंधुता और राष्ट्र की एकता और अखंडता" है। "बंधुता" शब्द के लिए डा० अम्बेडकर द्वारा दिया गया यह स्पष्ट करने वाला स्पष्टीकरण उद्धृत करना सुसंगत होगा कि "बंधुता से सभी भारतीयों के सामान्य भाईचारे का भाव अभिप्रेत है।" एक ऐसे देश में जैसा कि हमारा है, इतने सारे विच्छिन्न करने वाले बल जैसे कि "प्रांतवाद" "जातिवाद" और "भाषावाद", के कारण इस बात पर बल देना और पुनः बल देना आवश्यक है कि भारत की एकता और अखण्डता केवल भाईचारे की भावना द्वारा ही सुरक्षित रह सकती है। भारत की एक सामान्य नागरिकता है और प्रत्येक नागरिक को यह महसूस करना चाहिए कि किसी अन्य आधार के होते हुए पहले वह एक भारतीय है। इस दृष्टिकोण से समानता लाने के लिए किसी भी उपाय का स्वागत किया जाना चाहिए। राजाओं के विशेषाधिकारों के जारी रखने के पक्ष में किए गए तर्क की कोई विधिमान्यता नहीं है। चूंकि हमने यह अभिनिर्धारित किया है कि निजी थैलियों का समाप्त करना अनुच्छेद 14 के प्रतिकूल नहीं है, इसलिए हमारे लिए श्री नारीमन द्वारा उद्धृत उन मामलों पर विचार करना अनावश्यक है जिनमें उनके अनुसार यह कहा गया है कि अनुच्छेद 14 के प्रतिकूल होने वाली कोई विधि समान रूप से संविधान के मूलभूत ढांचे के वहां तक प्रतिकूल है जहां तक अनुच्छेद 14 को संविधान का एक आधारतत्व अभिनिर्धारित किया गया है।

110. श्री डी० डी० ठाकुर द्वारा दिए गए तर्कों में से एक यह है कि संविधान का पाठ भारत के अनेकतावादी समाज के संदर्भ में किया जाना चाहिए जहां अनेक भिन्न और विपरीत हितों को एक साथ लाया गया है और संविधान निर्माताओं द्वारा प्रत्येक अनुभाग, वर्ग और समाज को कतिपय राजनैतिक, सांकृतिक और सामाजिक विशेषताओं को आरक्षित करने का आश्वासन देकर जो उस वर्ग या भाग के लिए विशिष्ट हैं, एकीकृत किया गया है। उदाहरण के तौर पर अनुच्छेद 370, जो जम्मू-कश्मीर को एक विशेष स्तर प्रदान करता है, के प्रति निर्देश किया गया है। उसने आगे यह कथन किया है कि उत्तर-पूर्वी राज्यों की तरह जिन जातियों को भी स्वच्छन्द शक्तियां उनकी जिला परिषदों के लिए दी गई थीं जो उसके समान हैं राज्यों को प्रदत्त की गई हैं और यह कि अल्पसंख्यकों के लिए विशेष उपबंध अनुच्छेद 301 के अंतर्गत किए गए हैं। इसके अलावा अनुच्छेद 25 और 26 अल्पसंख्यकों और धार्मिक अभिदानों की सुरक्षा के लिए अभिप्रेत है। इसे क्षति पहुंचाने वाले वही व्यक्ति हैं जिनके लिए ये उपबंध किए गए हैं और जिनके हितों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। उसके अनुसार किसी ऐसी परिस्थिति में अनुच्छेद 291 और 362 के अंतर्गत दिए गए "आश्वासन और प्रतिभूतियां" जो शासकों को उनके पूर्व वर्तमान अधिकारों का आश्वासन देने वाला मैगना कार्टा है, किसी प्रकार से नष्ट नहीं किया जा सकता है। हमारा यह विचार नहीं है कि पूर्वोक्त विशेष उपबंध यहां सुसंगत हैं।

111. जैसा कि बार-बार ऊपर संकेत किया गया था, एकमात्र प्रश्न यह है कि क्या अनुच्छेद 291, 362 का लोप करके और अनुच्छेद 363-क को अन्तःस्थापित करके और अनुच्छेद 366 के खण्ड (22) का संशोधन करके संविधान के मूलभूत ढांचे में परिवर्तन किया गया है। हमने इस प्रश्न का उत्तर यह मत अभिव्यक्त करते हुए पहले ही नकारात्मक दिया है कि संविधान का मूलभूत ढांचा या बुनियादी तत्व आक्षेपित अधिनियम द्वारा किसी प्रकार से परिवर्तित अथवा परिवर्धित नहीं किया गया है। हम "यदि" और "अपितु" पर अनुमान नहीं लगा सकते हैं और ऐसे निष्कर्ष पर नहीं पहुच सकते हैं कि अनुच्छेद 291 और 362 को संविधान में अल्पसंख्यकों के लिए किए गए विशेष उपबंधों के रूप में जैसा का तैसा बनाए रखना चाहिए। ये सभी प्रादेशिक, भाषा संबंधी धार्मिक और अन्य विभेदों को नजरअन्दाज़ करके राष्ट्र की एकता और अखण्डता प्राप्त करने के लिए जो ऐसी आधारशिलाएं हैं जिस पर संविधान का ताना-बाना बनाया गया है, एक अगला कदम है। तत्कालीन शासकों और भारत के नागरिक वर्ग के बीच प्रभेदीकरण को समाप्त करना है जिससे कि सामान्य भाईचारे की भावना उत्पन्न हो।

[1] [1971] सप्ली० एस० सी० आर० 549=(1971) 2 एस० सी० सी० 188.
[2] [1978] 4 उम० नि० प० 582 =[1978] 1 एस० सी० आर० 787=(1978) 1 एस० सी० सी० 37 = 1978 एस० सी० सी० (एल एण्ड एस) 23.

112. दोनों रिट याचिकाओं के विभिन्न पहलुओं पर सावधानी से विचार करने पर हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि संविधान (छब्बीसवां) संशोधन अधिनियम, 1971 पूर्ण रूप से विधिमान्य है।

113. पूर्वोक्त सभी कारणों से रिट याचिकाएं साथ ही साथ सम्बद्ध अंतरिम आवेदन दोनों खारिज किए जाते हैं। खर्चों के संबंध में कोई आदेश नहीं किया जाएगा।

114. हमारी जानकारी में यह बात लाई गई है कि भारी संख्या में रिट याचिकाएं कर्नाटक उच्च न्यायालय के समक्ष लम्बित हैं जो प्रश्नगत मामले पर आधारित विभिन्न अन्य प्रश्न उठाती हैं। चूंकि हमने अब छब्बीसवें संशोधन अधिनियम की विधिमान्यता की पुष्टि की है, इसलिए उच्च न्यायालय अन्य विवाद्यकों के प्रति निर्देश से, यदि कोई हो, उन सभी लम्बित रिट याचिकाओं का निपटारा विधि के अनुसार और आक्षेपित संशोधन अधिनियम की सांविधानिक विधिमान्यता की पुष्टि करने वाले निर्णय के प्रकाश में करना आरम्भ करेगा।

न्या० मोहन (सहमत) —

115. मुझे अपने विद्वान भाई न्या० रत्नावेल पांडियन के निर्णय का परिशीलन करने का अवसर मिला है। यद्यपि मैं इस मामले में अंतर्वलित सांविधानिक विवाद्यकों के महत्व को ध्यान में रखते हुए उनसे सम्मानपूर्वक सहमत हूं, फिर भी मैं निम्नलिखित कहना चाहूंगा।

116. यह 15 अगस्त, 1947 का दिन था जब भारत ने स्वतंत्रता प्राप्त की थी, पंडित जवाहर लाल नेहरू ने स्मरणीय शब्दों में इस प्रकार कहा था —

> "जब संसार सोता है तो भारत जीवन और स्वतंत्रता के लिए जागरुक होगा। एक क्षण आता है जो इतिहास में बहुत कम आता है जब हम पुरातत्व से नवीन की ओर कदम बढ़ाते हैं जब एक युग समाप्त होता है और जब किसी राष्ट्र की दीर्घकाल से दबी हुई आत्मा को आवाज़ मिलती है।"

117. स्वतंत्रता के आगमन के साथ-साथ भारत को अत्यन्त गम्भीर समस्याओं का सामना करना पड़ा था। अनेक समस्याओं में से तीन अत्यन्त कठिन और महत्वपूर्ण थीं। उनका समाधान जितना जल्दी किया जाता, उतना ही देश के लिए अच्छा था। (i) उनमें से प्रथम सामुदायिक एकता बहाल करना था जो बहुत हद तक क्षतिग्रस्त हो गई थी। (ii) राजाओं वाले राज्यों को भारतीय संघ में एकीकृत किया जाना था। (iii) एक लोकतंत्रात्मक संविधान जो नए विचारों को फैलाता, विरचित किए जाने की आवश्यकता थी।

118. स्वतंत्र होने के साथ ही यह महसूस किया गया था कि एक स्वतंत्र भारत में राजाओं वाले राज्यों का अस्तित्व राजनैतिक एकक में एक पुराना तत्व था। न तो गत इतिहास न ही आर्थिक और प्रशासनिक वास्तविकताएं अनेक स्वच्छन्द भूखण्डों के अस्तित्व को न्यायोचित ठहरा सकती थीं। उन्हें देश की एकता को बल देने के लिए भारतीय संघ के साथ एकीकृत होना था। बर्तानियां शक्ति की वापसी के पश्चात् राजाओं का सर्वाधिकार समाप्त हो गया था। वे या तो भारत अथवा पाकिस्तान में संयोजित होने तथा स्वतंत्र रहने का विनिश्चय कर सकते थे। सरदार वल्लभभाई पटेल भारतीय एकता के निर्माता और राष्ट्रवादी भारत के भाग्य के प्रधान रचनाकार, बल प्रयोग की न्यायिक धमनियों, राष्ट्रीयवाद के लिए निवेदनों, परतंत्रतावाद की चेतावनियों और राजनयिक दबाव के माध्यम से भारतीय संघ में राजाओं के राज्यों को लाए थे। राज्यों के सभी शासकों को सामान्य भलाई के लिए संविधान सभा की परिषदों के माध्यम से कार्य करने के लिए निमंत्रण दिया गया था।

119. यह निमंत्रण 19 फरवरी, 1949 को स्वीकार किया गया था।

120. इस पर श्वेत-पत्र में पृष्ठ 109 पर इस प्रकार कहा गया है—

> "चूंकि राज्य केन्द्र के अधिक निकट आ गए हैं, इसलिए यह स्पष्ट हो गया है कि भारतीय संघ के विभिन्न संघटक एककों के लिए पृथक् संविधान विरचित किए जाने का विचार शासकों की नीति से एक सम्पदा थी जिसका प्रजातंत्रात्मक संगठन में कोई स्थान नहीं हो सकता है। इस मामले पर अतएव राज्यों के मंत्रालय द्वारा संघों और राज्यों के प्रधानों के साथ 19 मई, 1949 को आगे विचार-विमर्श किया गया था और उनकी सहमति से यह विनिश्चय किया गया था कि राज्यों का संविधान भारत की संविधान सभा द्वारा विरचित किया जाना चाहिए और भारत के संविधान के भाग के रूप में होना चाहिए।"

121. यह कहना ठीक नहीं होगा कि वे जो संविधान सभा में एक-साथ बैठे थे और वे जिन्होंने अपने प्रतिनिधि वहां भेजे थे, विजेता और पराजिती के रूप में बैठे थे क्योंकि वे जिन्होंने अध्यर्पित किया था और वे जिन्हें आमेलित किया गया था, प्रभुत्तासम्पन्न के रूप में अथवा मैत्री करने वाले और संधि करने वाले उनके पूर्ण अधिकारी उच्च संविदा करने वाले पक्षकार के रूप में राज्य का कार्य करते हैं। वे राजा और प्रजा के रूप में या नागरिक और अन्य देशीय के रूप में नहीं होते हैं। इसके विपरीत वे भारत के प्रभुत्वसम्पन्न व्यक्ति, समान उन्मुक्त प्रजातंत्रवादी हैं जो सामान्य कल्याण के लिए जीवन की एक नई पद्धति को जनसाधारण की भावना से आगे बढ़ाते हैं।

122. जब भारत एक डोमीनियन बन गया था तो प्रभुत्ता के प्रत्येक अवशेष को त्याग दिया गया था, समान रूप से ऐसा ही राज्यों द्वारा किया गया था। उन सभी ने इस देश की जनता को समर्पित कर दिया था जिन्होंने संविधान सभा में अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से एक नए संविधान की विरचना की थी जिसमें एक नई व्यवस्था में किन्तु एक ही बंधन में और एक ही निष्ठा, श्रद्धा, वफादारी, प्रभुत्तासम्पन्न प्रजातंत्रात्मक लोकतंत्र, जो भारत है, के प्रति कर्तव्यपरायणता रखते हुए सभी नागरिक थे, जैसा कि न्या० बोस द्वारा **वीरेन्द्र सिंह बनाम उत्तर प्रदेश राज्य**[1] में स्पष्ट रूप से कथन किया गया था—

> "एक ही वार से समस्त अन्य राज्यक्षेत्रीय निष्ठाओं को समाप्त कर दिया गया था और भूत का अभिलोप कर दिया

---
[1] [1955] 1 एस० सी० आर० 415 = ए० आई० आर० 1954 एस० सी० 447.

गया था, सिवाए उसके जहां अभिव्यक्त रूप से आरक्षित रखा गया हो; समय के एक क्षण में नई व्यवस्था ने अपनी नवीन निष्ठा के साथ जो सभी के लिए एक ही स्रोत से उत्पन्न हुई थी, एक ही आधार पर; भारत की जनता के किसी वर्ग, किसी वर्ण, किसी जाति, किसी पंथ, किसी विभेद के बिना प्रभुत्वसम्पन्न इच्छा, पर आधारित थी, जन्म लिया था....।"

123. संघ सरकार की इच्छा को उसके श्वेत-पत्र में स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त किया था—

पृष्ठ 115 पर यह कहा गया था—

"नए संविधान के लागू होने के साथ-साथ विलयित राज्यों ने पृथक् एककों के रूप में अस्तित्व के समस्त अवशेषों को खो दिया था।"

पृष्ठ 130 पर—

"भारत के नए संविधान में राज्यों के संधीकरण—द्वारा लाई गई भारतीय एकीकरण की परिवर्तित धारणा को अभिव्यक्त किया गया है......।"

और पृष्ठ 131 पर—

"1935 की स्कीम के विपरीत नया संविधान प्रजातंत्रों और राजवंशों के बीच एक मैत्री नहीं है बल्कि जनता की प्रभुता की धारणा पर बनाया गया भारतीय जनता का एक वास्तविक संघ है। भारत के सभी नागरिक चाहे राज्यों या प्रदेशों में निवास करते हों, एक ही मूल अधिकारों और उन्हें प्रवृत्त करने के लिए एक ही विधिक उपायों का उपभोग करेंगे। केन्द्र के साथ उनके सांविधानिक संबंध के मामले में और उनके आंतरिक गठन में राज्य प्रदेशों के समान होंगे नए संविधान द्वारा अतएव उन सभी बनावटी अवरोधों का उन्मूलन किया गया है जिन्होंने प्रदेशों से राज्यों को अलग कर दिया था और एक मजबूत एकीकृत और प्रजातांत्रिक भारत के उद्देश्य को, जो समान रूप से प्रदेशों और राज्यों की जनता के पक्ष में एक हितकारी समुत्थान की सही आधार शिला पर बनाया गया हो, प्रथम बार प्राप्त किया गया है।"

124. राजाओं ने पहले अपने तीन मुख्य कृत्यों अर्थात् प्रतिरक्षा, विदेशी मामलात और संचार समर्पित किए थे तब उन पर आंतरिक सरकार को उनके अपने-अपने राज्यों के भीतर जनसाधारण के आन्दोलनों को समर्पित करने के लिए बल दिया गया था। इसके बदले में उन्हें अपने हक, गरिमाएं और उन्मुक्तियां रखने की अनुमति दी गई थीं और उदार निजी थैलियां दी गई थीं। इसी संदर्भ में अनुच्छेद 291 और 362 संविधान में लिए गए थे।

125. इसी प्रकार से अनुच्छेद 366(22) में "शासक" की परिभाषा की गई थी।

126. 2 सितम्बर, 1970 में एक विधेयक (चौबीसवां संशोधन विधेयक, 1970) इन अनुच्छेदों का लोप करते हुए पुरःस्थापित किया गया था। यद्यपि इसे लोक सभा में पारित कर दिया गया था, फिर भी यह राज्य सभा में वर्तमान और मत देने वाले सदस्यों का अपेक्षित दो-तिहाई बहुमत अभिप्राप्त नहीं कर सका था। अतएव, इस विधेयक को पुरःस्थापित करने के लिए प्रस्ताव पराजित घोषित किया गया था। तत्पश्चात् शीघ्र ही भारत के राष्ट्रपति ने संविधान के अनुच्छेद 366 के खण्ड (22) के अंतर्गत अपनी शक्ति का प्रयोग करते हुए समस्त शासकों की मान्यता वापस लेने वाली एक लिखत पर हस्ताक्षर किए थे। तदुपरांत इस आदेश को इस न्यायालय में भारतीय संविधान के अनुच्छेद 32 के अंतर्गत आक्षेपित किया गया था। **माधव राव सिंधिया बनाम भारत संघ**[1] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि शासकों को अमान्य करने वाला राष्ट्रपति का आदेश अवैध तथा अविधिमान्य है। इस निर्णय के पश्चात्वर्ती भाग में इस विनिर्णय के निर्णयाधार पर विस्तारपूर्वक चर्चा की जाएगी। इस विनिर्णय को प्रभावहीन करने के उद्देश्य से संविधान का छब्बीसवां संशोधन पुरःस्थापित किया था। निम्नलिखित सारिणीबद्ध कथन उस विधिक स्थिति को सामने लाएगा जो छब्बीसवें संशोधन के पश्चात् हो गई थी।

छब्बीसवें संशोधन के पूर्व अनुच्छेद	छब्बीसवें संशोधन के पश्चात् अनुच्छेद
291(1). इस संविधान के प्रारम्भ से पहले जहां किसी देशी राज्य के शासक द्वारा की गई किसी प्रसंविदा या करार के अधीन ऐसे राज्य के शासक को निजी थैली के रूप में किन्हीं राशियों की कर मुक्त देनगी भारत डोमीनियन की सरकार द्वारा प्रत्याभूत या आश्वसित की गई है वहां— (क) वैसी राशियां भारत की संचित निधि पर भारित होंगी तथा उस से दी जायेंगी; तथा (ख) किसी शासक को दी गई वैसी राशियां, सभी आय पर करों से विमुक्त होंगी।	291. (शासकों की निजी थैली की राशि) संविधान (छब्बीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 की धारा 2 द्वारा निरसित।
* *	* *
362. संसद् की या किसी राज्य के विधानमंडल की विधि बनाने की शक्ति के प्रयोग में, अथवा संघ या किसी राज्य की कार्यपालिका शक्ति के प्रयोग में, देशी राज्य के शासक के	362. देशी राज्यों के शासकों के अधिकार और विशेषाधिकार। संविधान (छब्बीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 की धारा 2 द्वारा निरसित।

[1] [1971] 1 उम० नि० प० 491 = (1971)1 एस० सी० सी० 85 = [1971] 3 एस० सी० आर० 9.

वैयक्तिक अधिकारों, विशेषाधिकारों और गरिमा के विषय में ऐसी प्रसंविदा या करार के अधीन, जैसा कि अनुच्छेद 291 में निर्दिष्ट है, दी गयी प्रतिभूति या आश्वासन का सम्यक् ध्यान रखा जाएगा।

363क. देशी राज्यों के शासकों को दी गई मान्यता की समाप्ति और निजी थैलियों का अंत—इस संविधान या तत्समय प्रवृत्त किसी विधि में किसी बात के होते हुए भी—

(क) ऐसा राजा, प्रमुख या अन्य व्यक्ति, जिसे संविधान (छब्बीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 के प्रारंभ से पहले किसी समय राष्ट्रपति से किसी देशी राज्य के शासक के रूप में मान्यता प्राप्त थी, या ऐसा व्यक्ति जिसे किसी ऐसे प्रारंभ से पहले किसी समय राष्ट्रपति से ऐसे शासक के उत्तराधिकारी के रूप में मान्यता प्राप्त थी, ऐसे प्रारंभ को और से ऐसे शासक या ऐसे शासक के उत्तराधिकारी के रूप में मान्यता प्राप्त नहीं रह जाएगा;

(ख) संविधान (छब्बीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 के प्रारंभ को और से निजी थैली का अंत किया जाता है और निजी थैली की बाबत सभी अधिकार, दायित्व और बाध्यताएं निर्वापित की जाती हैं और तदनुसार खंड (क) में निर्दिष्ट, यथास्थिति, शासक या ऐसे शासक के उत्तराधिकारी को या अन्य व्यक्ति को किसी राशि का निजी थैली के रूप में संदाय नहीं किया जाएगा।

366(22). "शासक" से किसी देशी राज्य के सम्बन्ध में अभिप्रेत है कोई राजा, प्रमुख या अन्य कोई व्यक्ति जिसने ऐसी कोई प्रसंविदा या करार, जैसा कि अनुच्छेद 291 के खण्ड (1) में निर्दिष्ट है, किया था तथा जो राष्ट्रपति द्वारा उस राज्य का शासक तत्समय अभिज्ञात है तथा उसके अन्तर्गत ऐसा कोई व्यक्ति भी है जो राष्ट्रपति द्वारा ऐसे शासक का उत्तराधिकारी तत्समय अभिज्ञात है।

366(22). "शासक" से ऐसा राजा, प्रमुख या अन्य व्यक्ति अभिप्रेत है जिसे संविधान (छब्बीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 के प्रारंभ से पहले किसी समय, राष्ट्रपति से किसी देशी राज्य के शासक के रूप में मान्यता प्राप्त थी या ऐसा व्यक्ति अभिप्रेत है, जिसे ऐसे प्रारम्भ से पहले किसी समय, राष्ट्रपति ऐसे शासक के उत्तराधिकारी के रूप में मान्यता प्राप्त थी;

127. इस संशोधन की विधिमान्यता को आक्षेपित किया गया था जो **केशवानन्द भारती** बनाम **केरल राज्य**[1] में विचारण के लिए आई थी। न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित करने के पश्चात् कि संविधान के मूलभूत ढांचे को संशोधित नहीं किया जा सकता है, अपने तारीख 24 अप्रैल, 1973 के निर्णय द्वारा यह निदेश दिया था कि संविधान न्यायपीठ संविधान (छब्बीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 की विधिमान्यता का अवधारण विधि के अनुसार करेगी और ये मामला संविधान न्यायपीठ को विधि के अनुसार निपटाने के लिए प्रतिप्रेषित किए जाते हैं।

128. इस प्रकार यह मामला हमारे समक्ष आया है।

129. याचियों की ओर से विद्वान काउन्सेल सोली जे सोराबजी ने **माधव राव**[2] वाले मामले का अवलम्ब लेते हुए निम्नलिखित तर्क किए थे।

130. अनुच्छेद 291 और 362 में शासकों के साथ की गई प्रतिभूत गिरवियां अंतर्विष्ट हैं। वे न्याय के प्रारम्भिक सिद्धांतों पर आधारित हैं। इन अनुच्छेदों में अंतर्विष्ट प्रयोजन भारत की रचनात्मक एकता सुनिश्चित करना और नई व्यवस्था का स्थिरीकरण सुलभ करना था।

131. इस न्यायालय ने सुस्पष्ट शब्दों में कहा था कि अनुच्छेद 366(22), 291 और 363 सांविधानिक स्कीम के अखण्ड भाग हैं। विधि का यह निरूपण नौ न्यायाधीशों की एक न्यायपीठ द्वारा किया गया है और यह बाध्यकर है।

132. "अखण्ड" से सारभूत अभिप्रेत है। इस प्रकार ऐसा कोई उपबंध अथवा संविधान की मूलभूत विशेषता गठित कर सकता है। परिणामस्वरूप संविधान के उपबंधों का पूर्ण रूप से समाप्त किया जाना निश्चय ही उसके सारभूत अथवा मूलभूत विशेषताओं को हानि पहुंचाएगा।

133. अतएव यदि यह संशोधन संविधान की मूलभूत या सारभूत विशेषता को नुकसान पहुंचाता है तो यह **वामन राव** बनाम **भारत संघ**[3] साथ ही साथ **भीम सिंह** बनाम **भारत संघ**[4] में यथाअधिकथित संसद की सांविधानिक शक्ति के परे होगा।

134. एक उचित दृष्टिकोण प्रत्येक मामले में हमारे संविधान की स्कीम में उस विशेषता के स्थान, उसके उद्देश्य और प्रयोजन की जांच करना है, जैसा कि **इन्दिरा नेहरू गांधी** बनाम **राज नारायण**[5] (एस०सी०सी० पृष्ठ 252) में अभिनिर्धारित किया गया था।

135. यह अनुच्छेद 291 और 362 के सम्मिलित करने से हुआ था कि संविधान निर्माता जैसा कि **माधव राव**[2] वाले मामले में न्यायालय

---

[1] [1973] 2 उम० नि० प० 159 = (1973)4 एस० सी० सी० 225.

[2] [1971] 1 उम० नि० प० 491 = (1971) 1 एस० सी० सी० 85 = [1971] 3 एस० सी० आर० 9.

[3] [1981] 4 उम० नि० प० 543 = (1980) 3 एस० सी० सी० 587.

[4] [1981] 4 उम० नि० प० 288 = (1981) 1 एस० सी० सी० 166.

[5] [1976] 1 उम० नि० प० 1 = (1975) सप्ली० एस० सी० सी० 1.

द्वारा अधिकथित किया गया है, संविधान के अन्तर्गत लाने के लिए शासकों की ऐच्छिक सम्मति और सहयोजन प्राप्त करने में समर्थ हुए थे। शासकों के अधिमिलन के बिना यह संविधान मूल रूप से भिन्न होता। समान रूप से भारत का राज्यक्षेत्र उसकी जनसंख्या, राज्य विधान मंडल और विधान सभाओं तथा लोक सभा और राज्य सभा का गठन पूर्ण रूप से भिन्न होता।

136. विद्वान काउन्सेल ने अनुच्छेद 291 और 362 में अंतर्विष्ट प्रतिभूतियों की प्रकृति और स्वरूप पर बल देने की याचना की है। उनको सम्मिलित किए जाने के समय वह भारत सरकार द्वारा दिए गए निष्ठापूर्ण वचनों के लिए कानूनी मान्यता के अलावा कुछ और नहीं था। स्वतंत्र भारत के संघ में सरकार का सत्य प्रजातंत्रात्मक प्ररूप सुनिश्चित करने के उद्देश्य से इस निष्ठापूर्ण वचन को मान्यता दिया जाना आवश्यक समझा गया था। वे उनके द्वारा उनके प्राधिकार और शक्तियों का समर्पण करने के लिए और उनके राज्यों का विघटन करने के लिए केवल एक मुआवज़े के रूप में सम्मिलित किए जाने के लिए आशयित थे।

137. इन अनुच्छेद के निरसित करने से उसका परिणाम इस एकमात्र मुआवज़े को अकृत करना है। शासकों के साथ न्याय करने का अंतर्निहित प्रयोजन समाप्त हो गया है। विश्वास भंग को मंजूरी दी गई है। परिणामस्वरूप संविधान की प्रकृति और स्वरूप निष्ठापूर्ण वचनों को मान्यता देने वाले से और निष्ठापूर्ण वचनों को तोड़ने वालों के साथ न्याय करने वाले में परिवर्तित हो गया है।

138. इन मूलभूत विशेषताओं की पहचान करने वाले परीक्षणों में से एक यह है कि क्या संविधान की शनाख्त परिवर्तित हो गई है जैसा कि **केशवानन्द भारती**[1] वाले मामले में अधिकथित किया गया है। पूछा जाने वाला प्रश्न यह है कि क्या यह अपनी शनाख्त, यदि कोई पूर्ण रूप से भिन्न बात प्रतिस्थापित होती है, बनाए रख सकता है। संविधान का स्वरूप अपरिवर्तित बना रहना चाहिए। यह आवश्यक नहीं है कि सांविधानिक संशोधन जो मूलभूत है या सारभूत विशेषता के प्रतिकूल है, मूलभूत ढांचे पर तुरन्त या तत्काल प्रभाव डाले। यह पर्याप्त है यदि यह **इन्दिरा नेहरू गांधी**[2] वाले मामले में जैसा अधिकथित है सारभूत विशेषता को हानि पहुंचाता है। अतएव लागू किए जाने वाला परीक्षण यह है कि क्या यह संशोधन कोई आदेशसूचक रोल अथवा आधारतत्व का उल्लंघन करता है या उसके प्रतिकूल है, जो संविधान का एक अखण्ड भाग है। तथ्यात्मक रूप से **भीम सिंह जी**[3] वाले मामले में यह अधिकथित किया गया है कि कोई कानूनी उपबंध जैसा कि अर्बन लैण्ड (सीलिंग एण्ड रेगूलेशन) ऐक्ट, 1976 की धारा 27 अनिर्बन्धित विवेकाधिकार प्रदत्त करती है और तद्द्वारा संविधान के अनुच्छेद 14 के प्रतिकूल है, यह संविधान के मूलभूत ढांचे को भी हानि पहुंचा सकती है। इन सभी कारणों से यह तर्क किया गया है कि आक्षेपित संशोधन अविधिमान्य है।

[1] [1973] 2 उम० नि० प० 159 = (1973)4 एस० सी० सी० 225.

[2] [1976] 1 उम० नि० प० 1 = (1975) सप्ली० एस० सी० सी० 1.

[3] [1981] 4 उम० नि० प० 288 = (1981)1 एस० सी० सी० 166,

139. याची की ओर से विद्वान काउन्सेल श्री डी० डी० ठाकुर ने श्री सोली जे० सोराबजी का समर्थन करते हुए कहा कि भारतीय संविधान की अत्यन्त महत्वपूर्ण विशेषताओं में से एक नैतिकता है। आक्षेपित संशोधन द्वारा नैतिकता को नष्ट किया गया है क्योंकि अनुच्छेद 361 में संशोधन के पूर्व आने वाली पीढ़ियों के लिए एक सत्यनिष्ठ वचन अंतर्विष्ट था। आक्षेपित संशोधन द्वारा उस सत्यनिष्ठ वचन का अतिक्रमण किया गया है।

140. निजी थैलियों को भारत की संचित निधि पर प्रभारित किया गया है और इसलिए संसद के नियंत्रण के बाहर हैं।

141. ये निजी थैलियां महाराजाओं अथवा राजकुमारों के जीवनकाल के दौरान संदेय हैं। अतएव यदि ये अस्थायी प्रकृति की हैं और केवल एक कथित अवधि तक चलने वाली हैं तो क्या संसद का आशय विधि का संशोधन करना था? यदि संविधान में इन उपबंधों के सम्मिलित करने का आशय यह था तो यह संशोधन किसी ऐसे आशय के प्रतिकूल होगा और इसलिए इनका समर्थन नहीं किया जा सकता था।

142. अनुच्छेद 14 में समानता का आश्वासन दिया गया है जो अनुचित व्यवहार को मना करता है। जहां इस संशोधन के कारण याची के साथ अनुचित व्यवहार किया गया है, वहां मूलभूत ढांचे को हानि पहुंचाई गई है क्योंकि समानता एक मूलभूत ढांचा है। इस तर्क के समर्थन में विद्वान काउन्सेल ने समानता पर विचार करने वाले मामले, जैसे, **अजय हसिया बनाम खालिद मुजीब सेहरावर्दी**[1], **मिनर्वा मिल्स लिमिटेड बनाम भारत संघ**[2] और **कस्तूरी लाल लक्ष्मी रेड्डी बनाम जम्मू-कश्मीर राज्य**[3] वाले मामले उद्धृत किए थे।

143. जो भी हो, निजी थैली एक सम्पत्ति है। यदि याची को उससे वंचित किया जाता है तो यह अनुचित है और मूलभूत ढांचे के प्रतिकूल है। उस दृष्टिकोण से भी इस संशोधन का समर्थन नहीं किया जा सकता है।

144. 1972 की रिट याचिका सं० 351 में 1992 के मध्यवर्ती आवेदन संख्या 3 में मध्यवर्ती की ओर से विद्वान काउनसेल श्री ए० के० गांगुली ने यह तर्क दिया था कि संविधान के अनुच्छेद 291 के अंतर्गत किसी राशि का संदाय करना प्रतिभूत या आश्वस्त किया गया है। इस प्रतिभूति का भारी महत्व है। इस प्रतिभूति का अभिप्राय इस उपबंध का बना रहना है। अनुच्छेद 32(4) में भी "प्रतिभूति" शब्द अंतर्विष्ट है। वही अर्थ अनुच्छेद 291 के अन्तर्गत प्रतिभूति को दिया जाना चाहिए।

145. यह प्रयोजन रहित नहीं है कि निजी थैली भारत की संचित निधि पर प्रभारित की गई है जैसा कि अनुच्छेद 112(छ) से देखा गया है। इस संबंध में **ओ० एम० मोहिन्द्रू बनाम जिला न्यायाधीश, दिल्ली**[4] के प्रति निर्देश किया जा सकेगा। इस बाबत कि मूलभूत ढांचा

[1] [1981] 4 उम० नि० प० 419 = (1981) 1 एस० सी० सी० 722 = [1981] एस० सी० सी० (एल एंड एस) 258.

[2] [1981] 3 उम० नि० प० 146 = (1980) 3 एस० सी० सी० 625 = [1981] 1 एस० सी० आर० 206.

[3] (1980) 4 एस० सी० सी० 1 = [1980] 3 एस० सी० आर० 1338.

[4] (1971) 3 एस० सी० सी० 5.

किससे गठित होगा, केशवानन्द भारती[1] वाले मामले में पैरा 582-83, 631, 632, 1159 और 1473 में आने वाले पैसेजों से पता लग सकेगा।

146. याची 1 की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् काउन्सेल श्री आर० एफ० नारीमन ने हमारा ध्यान सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 87(ख) की ओर आकर्षित किया था। उस उपबंध में विदेशी शासकों की उन्मुक्तियां सूचीबद्ध हैं। उसे संविधान के अनुच्छेद 14 के प्रतिकूल होने के रूप में आक्षेपित किया गया था। उस आक्षेप को **मोहन लाल जैन** बनाम **राजाधिराज महाराजा श्री सवाई मान सिंह जी**[2] में निवारित किया गया था। तर्क के उसी आधार पर यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि जहां आक्षेपित संशोधन द्वारा उन राजाओं को जो एक वर्ग गठित करते हैं, नष्ट किए जाने की याचना की गई है, वहां अनुच्छेद 14 का उल्लघंन हुआ है। जहां असमानों को समान रूप से बरता गया है, वहां इस न्यायालय ने ऐसे बर्ताव को अननुमोदित कर दिया है जैसा कि **रमेश प्रसाद सिंह** बनाम **बिहार राज्य**[3] और **नागपुर इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट** बनाम **विट्ठल राव**[4] से देखा गया है।

147. अतएव यदि अनुच्छेद 14 का उल्लघंन हुआ है, तो वह मूलभूत ढांचे का आक्रामक होगा जैसा कि **मिनर्वा मिल्स लिमिटेड**[5] वाले मामले से देखा गया है। यह कहा गया है कि आक्षेपित संशोधन संविधान के अनुच्छेद 51(ग) के प्रतिकूल है।

148. याचियों की ओर से दिए गए इन तर्कों का विरोध करते हुए विद्वान महाअटर्नी ने यह तर्क किया था कि राजाओं के साथ करार पूर्व, सांविधानिक करार थे। स्वीकृत रूप से वे राष्ट्र के एकीकरण को सुलभ करने और सभी नागरिकों के लिए जिसमें देशी राज्य सम्मिलित थे। सांविधानिक दस्तावेजों और सर्जित करने के प्रयोजन के लिए किए गए थे। विलयन करारों तथा संविधान की रचना से संबंधित विकास का इतिहास स्पष्ट रूप से यह दर्शित करता है कि ये देशी राज्यों की जनता का तत्कालीन ब्रिटिश भारत की जनता के साथ वास्तविक रूप से गठबंधन है।

149. द्वितीय, इस प्रसंविदा की प्रकृति एक संविदा की नहीं है क्योंकि एक संविदा का विधि द्वारा प्रवर्तन होता है। इसके विपरीत ये संविदाएं जैसा कि अनुच्छेद 363 से पता चलता है कि अन्याय्य बनाई गई हैं।

150. ये प्रसंविदाएं राजनैतिक प्रकृति की हैं और किन्हीं विधिक संघटकों को इन करारों में आधार नहीं माना जा सकता है जैसा कि **उस्मान अली खान** बनाम **सागरमल**[6] में अधिकथित किया गया था।

151. अनुच्छेद 291 और 362 में प्रतिभूतियां निजी थैलियों के संदाय के लिए प्रतिभूतियां हैं। किसी ऐसी प्रतिभूति को लोक हित में इसी प्रकार से किसी नीति संबंधी उद्देश्य अथवा संविधान के नीति के निदेशक तत्वों की पूर्ति करने के लिए सदैव प्रतिसंहृत किया जा सकता है। ये संक्षेप में वहीं हैं, जो कुछ आक्षेपित संशोधन की उद्देशिका में कहा गया है। ऐसा होने के कारण संविदा की श्रद्धा की बात अथवा अनुच्छेद 291 या 362 का असंशोधित किए जाने योग्य होना कोई आधार नहीं रखता है। राजनैतिक न्याय का सिद्धांत ही माने जाने योग्य नहीं हैं क्योंकि राजनैतिक न्याय से राजनैतिक समानता का सिद्धांत जैसा कि प्रौढ़ मताधिकार, सरकार का प्रजातंत्रात्मक प्ररूप आदि अभिप्रेत है।

152. वे संधियां/प्रसंविदाएं आदि जो भारत संघ और शासकों के बीच की गई थीं, राजनैतिक कार्रवाई का परिणाम थीं। कोई न्याय्य अधिकार सर्जित किए जाने के लिए आशयित नहीं थे। अनुच्छेद 363 जैसा कि वह अपने मूल रूप में था, इस प्रतिपादना को स्पष्ट करता है। चौबीसवें संशोधन के पूर्व वाले अनुच्छेदों में अधिकार और विशेषाधिकार, सरकार के राजनयिक कार्य थे तथा शासकों के बलिदानों को मान्यता देने के लिए नहीं था। किसी भी प्रकार से यह दलील नहीं दी जा सकती है कि शासकों को दी गई ये प्रतिभूतियां अनिश्चित काल तक जारी रखने के लिए कदापि आशयित थीं।

153. बुनियादी तत्वों पर विचार करते हुए बुनियादी तत्व का अवधारण करने के लिए समुचित परीक्षा इस बात का पता चलाना है कि कौन-से बुनियादी तत्व नहीं हैं। प्रसंविदाओं से उद्‌भूत होने वाले अधिकार जो अन्याय्य थे, बुनियादी तत्वों के रूप में समझे नहीं जा सकते हैं। अतएव जहां अनुच्छेद 363 इन तत्वों को अन्याय्य बनाता है, वहां बुनियादी विशेषता का प्रश्न उत्पन्न नहीं होता है।

154. यह दलील देना समान रूप से ठीक नहीं है कि यह संशोधन अनुच्छेद 14 के प्रतिकूल है। कोई ऐसा उल्लंघन नहीं किया गया है। यह नहीं हुआ है कि प्रस्थापित संशोधन द्वारा अनुच्छेद 14 को संशोधित किया गया हो। क्योंकि कोई उपबंध संविधान के बुनियादी तत्वों का उल्लंघन करता है, इसका विनिश्चय उन उपबंधों की भाषा से किया जाना होता है।

155. **माधव राव**[1] वाले मामले में अभिव्यक्त किए गए मतों का पाठ संविधान के संदर्भ, में, जैसा कि वह उस समय था, किया जाना है। इस न्यायालय का आशय संशोधन शक्ति को सीमित करना नहीं था।

156. छब्बीसवां संशोधन किसी मूलभूत ढांचे को नुकसान पहुंचाते हुए किसी प्रकार से संविधान का संशोधन नहीं करता है।

157. सम्पत्ति का अधिकार एक मूल अधिकार के रूप में भी मूलभूत ढांचे का एक भाग नहीं था। यह मानते हुए भी कि छब्बीसवें संशोधन पूर्व के निजी थैलियों के अधिकार को सम्पत्ति के रूप में होने वाला स्वीकार किया जाए फिर भी यह एक ऐसा अधिकार था जो विधि के प्राधिकार द्वारा समाप्त किए जाने योग्य था।

---

[1] [1973] 2 उम० नि० प० 159 = (1973) 4 एस० सी० सी० 225.

[2] [1962] 1 एस० सी० आर० 702 = ए० आई० आर० 1962 एस० सी० 73.

[3] [1978] 4 उम० नि० प० 582= [1978] 1 एस० सी० आर० 787= (1978) 1 एस०सी०सी० 37 = (1978) एस०सी०सी० (एल एण्ड एस) 23.

[4] [1973] 3 एस० सी० आर० 39=(1973) 1 एस०सी०सी० 500.

[5] [1981] 3 उम० नि० प० 146 = [1981] 1 एस० सी० आर० 206 (1980) 3 एस० सी० सी० 625.

[6] [1965] 3 एस० सी० आर० 201 = ए० आई० आर० 1965 एस० सी० 1798.

[1] [1971] 1 उम० नि० प० 491= [1971] 3 एस० सी० आर० 9 (1971) 1 एस० सी० सी० 85.

158. निजी थैलियों और शासकों के विशेषाधिकारों को स्थायी रूप से बनाए रखना किसी प्रभुत्तासम्पन्न और लोकतांत्रिक सरकार के प्ररूप से बेमेल होगा। इस प्रकार बनाए रखना अनुच्छेद 14 द्वारा अनुध्यात सरकार के समाजवादी प्ररूप के साथ भी बेमेल होगा।

159. **माधव राव**[1] वाले मामले में बहुमत के निर्णय में "संविधान की स्कीम का अखण्ड भाग" शब्द वैसे ही नहीं है जैसा कि मूलभूत ढांचा। उनका पाठ एक अध्यादेश के आक्षेप के संबंध में किया जाना है, जिसके द्वारा तत्समय वर्तमान संविधान में प्रतिभूत कतिपय अधिकारों को निरर्थक कर देने की याचना की गई थी। किसी भी दशा में अनुच्छेद 363 का सांविधानिक वर्जन शासकों द्वारा निष्पादित प्रसंविदाओं और संधियों से उद्भूत होने वाले विवादों के संबंध में न्यायालय की अधिकारिता समाप्त कर देता है। अतएव, यह दलील देना बेकार है कि आक्षेपित संशोधन किसी प्रकार से संविधान के मूलभूत ढांचे में हस्तक्षेप करता है।

160. **उस्मान अली खान**[2] अब भी एक अच्छी विधि है। **माधव राव**[1] वाले मामले के द्वारा जो कुछ अभिखंडित किया गया है, वह राजनैतिक स्वरूप है। अनुच्छेद 291, 362, 366(22) का आशय कदापि एक मूलभूत ढांचा गठित करना नहीं था। वे सम्पूर्ण संविधान को पूर्ण रूप से लागू नहीं होते हैं जिससे यह कहा जा सके कि उनका अभाव संविधान के स्वरूप को परिवर्तित कर देगा। अन्तरभूत साक्ष्य प्रवर्तन के लिए एक मशीनरी की उपलभ्यता है। संविधान के भाग III के अंतर्गत प्रतिभूत अधिकारों के मामले में प्रवर्तन के लिए मशीनरी उपलब्ध है। उसके विपरीत निजी थैलियों के प्रवर्तन के लिए कोई ऐसी मशीनरी अनुच्छेद 363 के अंतर्गत उपलब्ध नहीं है। अतः यह तर्क किया गया है कि यह मूल अधिकार के समक्ष एक निम्न कोटि का अधिकार है। अतः इसे कदापि एक मूलभूत ढांचा नहीं कहा जा सकता है। इस बाबत कि इसके अर्थ क्या हैं।

161. विद्वान महान्यायवादी ने भी हमारा ध्यान भारत के पदेन मुख्य न्यायाधीश के० सुब्बा राव के "दो निर्णयों : **गोलक नाथ**[3] और **केशवानन्द भारती**[4]" शीर्षक के रूप में एक लेख की ओर आकर्षित किया है।

162. आक्षेपित संशोधन के नैतिकता संबंधी भाग के बारे में इस बात पर बल दिया गया है कि उसकी बाबत कोई अनैतिक बात नहीं है। जहां परिवर्तित स्थिति तथा एक समाजवादी समाज स्थापित करने की चिन्ता विधि का प्रवर्तन अपेक्षित करती है, वहां वह विधिमान्य होती है।

163. इन तर्कों के उत्तर में श्री सोली जे० सोराबजी ने यह दलील दी थी कि विद्वान महान्यायवादी के ये तर्क अनुच्छेद 291 और 362 के अंतर्गत प्रतिभूतियां अनुच्छेद 363 की दृष्टि से अप्रवर्तनीय हैं और **माधव राव**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के निर्णय की दृष्टि से अमान्य हैं।

[1] [1971] 3 एस० सी० आर० 9 [1971] उम० नि० प० 491 = (1971) 1 एस० सी० सी० 85.

[2] [1965] 3 एस० सी० आर० 201 = ए० आई० आर० 1965 एस० सी० 1798

[3] [1967] 2 एस० सी० आर० 762 = ए० आई० आर० 1967 एस० सी० 1643.

[4] [1973] 2 उम० नि० प० 159 = (1973) 4 एस० सी० सी० 225.

164. यह तर्क करना भी ठीक नहीं है कि यह राज्य का ही कार्य है। इसलिए उसके अंतर्गत आने वाले मामलों के संबंध में उसे अनुतोष मंजूर नहीं किया जा सकता है। किसी ऐसे तर्क को इस न्यायालय द्वारा स्वीकार नहीं किया गया है जैसा कि **माधव राव**[1] वाले मामले में पृष्ठ 53, 90-93 पर देखा गया है।

165. **उस्मान अली खान**[2] वाले मामले का बलपूर्वक अवलम्ब इस संबंध में लिया गया था कि निजी थैलियां प्रतिकर की प्रकृति की हैं। विद्वान महान्यायवादी द्वारा अवलम्बित मतों पर माधव राव वाले मामले में बहुमत द्वारा उन्हें इतिरोक्ति के रूप में समझा गया है बल्कि अशुद्ध भी समझा गया है, जैसा कि पृष्ठ 98, 145 और 193 पर उस्मान अली खान वाले मामले में देखा गया है। यह तर्क कि निजी थैलियां मात्र प्रसुविधाएं हैं, माधव राव वाले मामले के विनिश्चय के प्रतिकूल हैं क्योंकि उन्हें अनुच्छेद 19(1)(ख) और 31 के अंतर्गत प्रतिभूत मूल अधिकार अभिनिर्धारित किया गया है।

166. पूर्व तर्क को ध्यान में रखते हुए एकमात्र प्रश्न यह रह जाएगा कि क्या छब्बीसवां संशोधन संसद की सांविधानिक शक्ति के परे है? दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि क्या यह संशोधन संविधान के किसी मूलभूत या सारभूत तत्व को नुकसान पहुंचाता है?

167. छब्बीसवें संशोधन अधिनियम के पूर्व और पश्चात् विधि को सारणीबद्ध कथन में ही उपवर्णित किया गया है जैसा कि आक्षेपित संशोधन द्वारा देखा जा सकता है। अनुच्छेद 291 और 362 लोप किए जाने के लिए लाए गए हैं। एक नया अनुच्छेद 363-क अंतःस्थापित करने के लिए लाया गया है। अनुच्छेद 366 का मूल खण्ड (22) एक नए खण्ड द्वारा प्रतिस्थापित किए जाने के लिए आया है। संक्षेप में यह संशोधन भारतीय राज्यों के पूर्ववर्ती राजाओं की निजी थैलियों और विशेषाधिकारों का पर्यवसान करने की याचना करता है। यह संविधान के अनुच्छेद 291 और 362 के अंतर्गत यथा प्रतिभूत और आश्वस्त उन्हें पहले ही प्रदान की गई मान्यता का भी अभिव्यक्त रूप से पर्यवसान करने की याचना करता है। अतएव आक्षेपित संशोधन द्वारा इन प्रतिभूतियों और आश्वासनों को वापस ले लिया गया है और निजी थैलियां व्यक्तिगत अधिकार, विशेषाधिकार और गरिमाओं को भी समाप्त कर दिया गया है। संशोधन की विधिमान्यता पर निम्नलिखित रूप में आक्षेप किया गया है:—

(i) संविधान का अनुच्छेद 291, 362 और 366(22) एक महत्वपूर्ण मूलभूत ढांचा गठित करते हैं और इन अनुच्छेदों का उत्सादन मूलभूत ढांचे का उल्लंघन करने के समान होगा।

(ii) की गई प्रसंविदाएं सांविधानिक प्रतिभूतियों द्वारा समर्थित संविदाओं की प्रकृति की हैं। उनकी अतिरिक्त पुष्टि निजी थैलियों को भारत की संचित निधि पर प्रभावित एक व्यय के रूप में बना कर

[1] [1971] 1 उम० नि० प० 491 = [1971] 3 एस० सी० आर० 9 = (1971) 1 एस० सी० सी० 85.

[2] [1965] 3 एस० सी० आर० 201 = ए० आई० आर० 1965 एस० सी० 1798.

की गई है। स्थिति ऐसी होने के कारण प्रसंविदा का कोई भंग नहीं किया जा सकता क्योंकि उनका आशय एक उचित मुआवज़े के रूप में उन्हें सम्मिलित करने का था जो आक्षेपित संशोधन द्वारा अकृत हो गया है।

(iii) यह मनमाना और अयुक्तियुक्त है और इसलिए अनुच्छेद 14 और प्रारम्भिक रूप से मूलभूत ढांचे के प्रतिकूल है।

(iv) यह नैतिक नहीं है।

आधार-भूमि

168. पूर्वोक्त बातों पर विचार करने के उद्देश्य से उस आधार-भूमि का उपवर्णन करना आवश्यक है जिसमें यह अनुच्छेद संविधान में सम्मिलित किए गए थे। यह 5 जुलाई, 1947 थी जब सरदार वल्लभभाई पटेल ने निम्नलिखित उपदेश दिया था:—

> "यह देश अपनी संस्थाओं सहित उन व्यक्तियों की जो इसमें निवास करते हैं, एक वैभवशाली पैतृक सम्पत्ति है। यह एक संयोग है कि कुछ राज्यों में निवास करते हैं और कुछ ब्रिटिश भारत में किन्तु सभी अपनी संस्कृति और स्वरूप का समानरूप से पालन करते हैं। हम रक्त और भावना के बंधनों से बंधे हुए हैं जो परस्पर हित से कम नहीं है। कोई हमें खण्डों में विभाजित नहीं कर सकता है; कोई अलंघनीय अवरोध हमारे बीच खड़ा नहीं किया जा सकता है। हम यह सुझाव देते हैं कि इसलिए हमारे लिए मित्रों के रूप में एक साथ बैठकर विधि बनाना अन्य देशियों के रूप में संधियां करने से कहीं अच्छा है। मैं अपने मित्रों, राज्यों के शासकों और उनके व्यक्तियों को संविधान सभा की परिषदों में एक संयुक्त प्रयास में एक मैत्रीपूर्ण और सहयोजीकरण की भावना से हम सभी की सामान्य भलाई के लिए अपनी मातृभूमि के प्रति सामान्य निष्ठा से प्रेरित होकर आमंत्रित करता हूं।
>
> हम भारत के इतिहास में एक क्षणिक स्तर पर हैं। सामान्य प्रयास द्वारा हम इस देश को एक नई ऊंचाई तक पहुंचा सकते हैं जबकि एकता के अभाव से हमें नई दुश्वारियों का सामना करना पड़ेगा। हम आशा करते हैं कि भारतीय राज्य यह ध्यान में रखेंगे कि सामान्य हित में सहयोजित उनका अनुकल्प अराजकता, अव्यवस्था है जो छोटे और बड़े को एक सामान्य बर्बादी में जकड़ लेगी यदि हम कम से कम सामान्य प्रयास में एक साथ एकत्रित होने में असमर्थ हो जाते हैं। आने वाली पीढ़ी को हम इस कारण बुरा-भला कहने का मौका न दें कि हमारे पास अवसर तो था किन्तु हम अपने पारस्परिक फायदे के लिए उसका लाभ उठाने में असफल हो गए। इसके स्थान पर उस पारस्परिक लाभदायी संबंध की एक पैतृक सम्पत्ति को छोड़ने का हमें गर्व होना चाहिए जो इस पवित्र भूमि को संसार के राष्ट्रों के बीच उसके संमुचित स्थान तक पहुंचा सके और उसे एक शान्ति और समृद्धि का निवास-स्थान बना सके।"

स्थिति को स्पष्ट करते हुए उन्होंने 13 नवम्बर, 1947 को इस प्रकार कहा था:—

> "यह राज्य किसी व्यष्टि का नहीं है। सर्वोच्चता समाप्त कर दी गई है, निश्चय ही जो राजाओं के प्रयास से नहीं बल्कि लोगों के प्रयास से की गई है। अतएव ये व्यक्ति ही हैं जिन्हें स्वयं शासन करने का अधिकार है और नवाब जनसाधारण को अपने भाग्य को बनाने के विशेषाधिकार से वंचित नहीं कर सकते हैं।"

169. इस संबंध में श्री बी० शिवा राव द्वारा लिखित "दी फ्रेमिंग ऑफ इंडियाज़ कांस्टीट्यूशन" के वाल्यूम 5 पृष्ठ 520 से निम्नलिखित उद्धृत करना समुचित होगा:—

> "भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस गत समय में इंडियन स्टेट्स पीपल्स कांफ्रेंस के प्रति जिसने राज्यों में जनता की सरकारें स्थापित करने की याचना की थी, अपनी सहानुभूति के लिए सुज्ञात थी। जवाहरलाल नेहरू स्वयं इस आंदोलन के साथ निकट रूप से सहयोजित थे। राज्यों के शासक जिन्होंने अधिकतर भाग के लिए पूर्ण और अनन्य वैयक्तिक शक्तियों के लिए दावा किया था, स्वाभाविक रूप से इस आंदोलन के प्रति सहानुभूति नहीं रखते थे। संविधान सभा में कार्यवाहियों का आरम्भ विशेष रूप से सभा और शासकों के बीच सहयोग के लिए सहायक नहीं था। संविधान सभा में 13 दिसम्बर, 1946 को उद्देश्यपूर्ण संकल्प का प्रस्ताव (जिसमें न तो भारतीय राज्य और न ही मुस्लिम लीग का उस समय प्रतिनिधित्व था) नेहरू ने स्पष्ट किया था कि इस संकल्प का संबंध इससे नहीं था कि राज्यों में किस प्रकार की सरकार थी अथवा "क्या राजा और नवाब बने रहेंगे या नहीं" उन्होंने इस बात पर भी बल दिया था कि यदि भारतीय लोकतंत्र का एक भाग स्वयं अपना प्रशासन रखने की इच्छा करता है तो उसे ऐसा करने का स्वागत किया जाएगा। किन्तु साथ ही साथ उन्होंने यह स्पष्ट किया था कि इस मामले में अंतिम विनिश्चय, चाहे राज्यों में राजतंत्रीय प्ररूप की सरकार हो या न हो, राज्यों की जनता द्वारा होगा।"

170. वह राजनैतिक आधार-भूमि का जिसमें यह अनुच्छेद संविधान में सहयोजित किए गये थे पहले ही उपवर्णन कर दिया गया है। इस स्तर पर जिस बात पर बल देना अपेक्षित है, यह है कि जनता ने तत्कालीन ब्रिटिश भारत के साथ राज्यों का एकीकरण करवाया था जो विदेशी शासन से आजाद हुआ था। पूर्व उद्धृत 13 नवम्बर, 1947 को सरदार पटेल के भाषण से यह अत्यन्त स्पष्ट है।

171. उन विशेषाधिकारों और शक्तियों को मान्यता देने के लिए जो इस समय वर्तमान थे, निजी थैलियां प्रदत्त की गई थीं। इन अनुच्छेदों द्वारा निजी थैलियों का संदाय आश्वस्त किया गया था।

निजी थैली का स्वरूप

172. विधि के क्षेत्र में निजी थैली का यथार्थ स्वरूप क्या है, इसे

उस्मान अली खान[1] वाले मामले के पृष्ठ 206 से समझा जा सकता है जो नीचे दिया गया हैः—

> "श्री पाठक की तीसरी दलील से यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या किसी पूर्ववर्ती भारतीय राज्य के शासक को निजी थैली के रूप में संदेय रकम सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 60(1)(छ) के अर्थान्तर्गत एक राजनैतिक पेंशन है। सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 60(1)(छ) में "पेंशन" शब्द से सरकार द्वारा पेंशन पाने वालों को धन का सामयिक संदाय विवक्षित है। नवाब बहादुर ऑफ मुर्शिदाबाद **बनाम** करमानी इंडस्ट्रियल बैंक लिमिटेड[(1931)58 आई० ए० 215, 219, 220=ए०आई०आर० 1931 पी०सी० 160] और बिशम्भर नाथ **बनाम** नवाब इमदाद अली खान [1][(1890)17 आई० ए० 181, 186=आई० एल० आर० 18 कलकत्ता 216] में लार्ड वॉटसन ने निम्नलिखित मत अभिव्यक्त किया था:—
>
> > पेंशन जिसके लिए भारत की सरकार ने एक प्रतिभूति दी कि वह उसका संदाय करेगी, एक दूसरे प्रभुत्वसम्पन्न शक्ति के साथ की गई एक संधि संबंधित बाध्यता द्वारा, मान्य न्यायाधीशों को कड़े अर्थ में एक राजनैतिक पेंशन प्रदत्त होती है। संदाय करने की बाध्यता साथ ही साथ पेंशन के वास्तविक संदाय की ऐसी परिस्थितियों में राज्य की नीति संबंधी कारणों के साथ जोड़ा जाना चाहिए।"

अब एकीकरण और भारतीय राज्यों के अंतिम रूप से आमेलन तथा भारतीय पूर्ववर्ती राज्यों के शासकों को निजी थैलियों के रूप में सामयिक राशियों के संदाय के लिए प्रतिभूतियों का इतिहास सुज्ञात है। पूर्ववर्ती भारतीय राज्य ब्रिटिश क्राउन के शासन के अंतर्गत अर्ध-प्रभुता रखने वाले राज्य थे। स्वतंत्रता के घोषित किए जाने के साथ-साथ ब्रिटिश क्राउन की सर्वोच्चता 15 अगस्त, 1947 से समाप्त हो गई थी और भारतीय राज्यों के शासक राजनैतिक रूप से स्वतंत्र, प्रभुतासंपन्न बन गए थे। भारतीय राज्यों ने क्रमिक स्तरों पर अपनी प्रभुता समर्पित की थी, प्रथम रूप से भारत की डोमीनियन के साथ अधिमिलन पर द्वितीय राज्यों के क्षेत्रानुसार प्रशासनिक एककों के साथ एकीकरण पर और भारत की डोमीनियन के साथ आखिर में अधिमिलन किए जाने पर और अंतिम रूप से भारत के संविधान के अपनाने पर तथा राज्यों और राज्यों के संघों के पृथक् अस्तित्व का निवेदन करने पर राज्यों के इस राजनैतिक आमेलन के द्वितीय पक्ष के दौरान मध्य भारत के राज्यों के शासक जिनमें जौरा राज्य के शासक सम्मिलित थे, 22 अप्रैल, 1948 को ग्वालियर, इंदौर और मालवा(मध्य भारत) के संघ राज्यों के एकीकरण के लिए एक प्रसंविदा की थी। इस प्रसंविदा के अनुच्छेद II द्वारा प्रसंविदा करने वाले राज्य एक राज्य में अपने राज्यक्षेत्रों को जोड़ने और एकीकृत होने के लिए सहमत हो गए थे। अनुच्छेद VI में यह उपबंध किया गया था कि प्रत्येक संविदा करने वाले राज्य के शासक राज्यप्रमुख को राज्य का प्रशासन देगा जो 1 जुलाई, 1948 के पश्चात् किया जाएगा और तदुपरांत इस शासक के सभी अधिकार, प्राधिकार और अधिकारिताएं और जो राज्य की सरकार से संलग्न या समनुषंगी हों, मध्य भारत के संघ राज्य में निहित हो जाएंगे। अनुच्छेद 11(1) में यह उपबंध किया गया था कि "प्रत्यक्ष प्रसंविदा करने वाले राज्य का शासक उस एकीकृत संघीकृत राज्य के राजस्व से वार्षिक रूप से अपनी निजी थैली के लिए अनुसूची-1 में उस प्रसंविदा करने वाले राज्य के विरुद्ध विनिर्दिष्ट रकम प्राप्त करने के लिए हकदार होगा।" अनुसूची-1 में 1,75,000 रुपए की राशि जौरा राज्य के विरुद्ध विनिर्दिष्ट की गई थी। अनुच्छेद 11(2) में यह उपबंध किया गया था कि निजी थैली की रकम के अन्तर्गत शासक और उसके परिवार के समस्त व्यय जिसमें आवास, विवाह और अन्य समारोहों के व्यय सम्मिलित होना आशयित थे, उपबंध किया गया था और किसी भी कारण से उसमें न तो वृद्धि की जा सकती थी न ही उसे घटाया जा सकता था। अनुच्छेद 11(3) में यह उपबंध किया गया था कि राज्य प्रमुख उस रकम का संदाय शासक को चार समान किस्तों में अग्रिम रूप से प्रत्येक पक्ष के आरम्भ में करवाएगा। अनुच्छेद 11(4) में यह उपबंध किया गया था कि यह रकम समस्त करों से चाहे एकीकृत राज्य की सरकार द्वारा अधिरोपित किए गए हों या भारत की सरकार द्वारा, मुक्त होगी। प्रसंविदा के अनुच्छेद 13 द्वारा प्रत्येक प्रसंविदा करने वाले शासक को समस्त वैयक्तिक प्रसुविधाएं, गरिमाएं और जिनका उनके द्वारा उपभोग किया जा रहा था, सुनिश्चित की गई थीं। अनुच्छेद 14 में प्रत्येक प्रसंविदा करने वाले राज्य की विधि, रिवाज, गद्दी के अनुसार उत्तराधिकारों और शासक के व्यक्तिगत अधिकारों, प्रसुविधाओं, गरिमाओं और हकों के लिए प्रतिभूति दी गई थी। इस प्रसंविदा पर प्रसंविदा करने वाले राज्यों के सभी शासकों द्वारा हस्ताक्षर किए गए थे। प्रसंविदा के नीचे यह कथन किया गया था कि "भारत सरकार एतद्द्वारा पूर्वोक्त प्रसंविदा से सहमत है और उसके समस्त उपबंधों की प्रतिभूति देती है।" इस संविदा और प्रतिभूति के पुष्टिकरण में प्रसंविदा पर भारत सरकार के सचिव द्वारा हस्ताक्षर किए गए थे।

भारतीय संविधान के प्रवृत्त होने पर मध्य भारत के राज्यक्षेत्र भारत का एक अखण्ड भाग बन गए थे। संविधान के अनुच्छेद 291 में निम्नलिखित उपबंध किया गया था:—

> "जहां इस संविधान के प्रारम्भ होने के पूर्व किसी भारतीय राज्य के शासक द्वारा की गई कोई प्रसंविदा या करार के अन्तर्गत किसी कर से मुक्त शासक को भारत की डोमीनियन की सरकार द्वारा किसी राशि के संदाय की प्रतिभूति दी गई है या आश्वासन दिया गया है;
>
> (क) वहां ऐसा राज्य निजी थैली के रूप में ऐसी राशियां जो भारत की संचित निधि पर प्रभारित होंगी और उनका संदाय किया जाएगा; तथा
>
> (ख) किसी शासक को इस प्रकार संदत्त राशियां आय पर समस्त करों से मुक्त होंगी।"

भारत की सरकार या डोमीनियन द्वारा मध्य भारत के एकीकृत राज्य के निर्माण के लिए प्रसंविदा में जौरा राज्य के शासक को भारत की सरकार या डोमीनियन द्वारा प्रतिभूति की दृष्टि से उस शासक को निजी थैली के

[1] [1965] 3 एस० सी० आर० 201=ए०आई० आर० 1965 एस० सी० 1798.

रूप में प्रसंविदा में विनिर्दिष्ट राशियों का संदाय भारत की संचित निधि पर प्रभारित बन गया था और आय पर सभी करों से मुक्त उसे संदेय हो गया था। अनुच्छेद 362 में यह उपबंध किया गया है कि विधायी और कार्यपालक शक्तियों के प्रयोग में किसी ऐसी प्रसंविदा में जिसके प्रति अनुच्छेद 291 में निर्देश किया गया है, एक भारतीय राज्य के शासक के व्यक्तिगत अधिकारों, विशेषाधिकारों और गरिमाओं के संबंध में दी गई प्रतिभूति का सम्यक् रूप से ध्यान रखा जाएगा। अनुच्छेद 363 (1) में यह उपबंध किया गया है कि संविधान में किसी बात के अंतर्विष्ट होते हुए भी न्यायालयों के पास किसी भारतीय राज्य के शासक द्वारा की गई किसी प्रसंविदा में, जिसकी भारत की डोमीनियन की सरकार एक पक्षकार थी, उद्भूत होने वाले किसी विवाद में, अथवा किसी ऐसी प्रसंविदा से संबंधित संविधान के किसी उपबंध से उद्भूत होने वाले किसी अधिकार के संबंध में अथवा किसी दायित्व या बाध्यता के अंतर्गत किसी विवाद के बारे में, कोई अधिकारिता नहीं होगी। अनुच्छेद 366(22) में यह उपबंध किया गया है कि "शासक" अभिव्यक्ति से किसी भारतीय राज्य के संबंध में ऐसा व्यक्ति अभिप्रेत है जिसके द्वारा अनुच्छेद 299 (1) में निर्दिष्ट प्रसंविदा की गई थी और जिसे तत्समय राष्ट्रपति द्वारा उस राज्य के शासक के रूप में मान्यता दी गई थी और इसमें ऐसा कोई व्यक्ति भी सम्मिलित है जिसे राष्ट्रपति द्वारा तत्समय ऐसे शासक के उत्तराधिकारी के रूप में मान्यता दी गई है।

अब मध्य भारत राज्य के शासकों द्वारा की गई प्रसंविदा, स्वतंत्र राज्यों के शासकों द्वारा की गई एक संधि थी जिसके द्वारा उन्होंने अपने-अपने राज्य क्षेत्रों पर अपनी प्रभुता को समर्पित कर दिया था और उसे मध्य भारत के नए एकीकृत राज्य में निहित कर दिया था। यह प्रसंविदा राज्य का एक कार्य था और उसके निबंधनों का कोई उल्लंघन किसी नगरपालिक न्यायालय में कार्यवाही की विषय-वस्तु नहीं बन सकता था। भारत सरकार द्वारा दी गई प्रतिभूति भारतीय राज्यों के प्रभुतासम्पन्न शासकों के साथ की गई एक संधि की बाध्यता की प्रकृति की थी और उसे किसी न्यायपालिक न्यायालय में कार्यवाही के द्वारा प्रवृत्त नहीं किया जा सकता था। उसकी मंजूरी राजनैतिक है न कि विधिक । भारतीय संविधान के प्रवृत्त होने पर निजी थैली के रूप में सामयिक राशियों का संदाय करने की प्रतिभूति संविधान के अनुच्छेद 291 द्वारा जारी रखी गई है किन्तु उसका आवश्यक राजनैतिक स्वरूप संविधान के अनुच्छेद 360 द्वारा आरक्षित रखा गया है और इस प्रतिभूति के अंतर्गत बाध्यता को किसी न्यायपालिक न्यायालय में प्रवृत्त नहीं कराया जा सकता है। इसके अलावा यदि राष्ट्रपति उस व्यक्ति को मान्यता देने से इंकार करता है जिसके द्वारा यह प्रसंविदा राज्य के शासक के रूप में की गई है तो वह अनुच्छेद 291 के अंतर्गत निजी थैली के रूप में संदेय रकम के लिए हकदार नहीं होगा। इस प्रकार किसी पूर्ववर्ती भारतीय राज्य के शासक को राजनैतिक मान्यताओं पर और राजनैतिक मंजूरियों के अंतर्गत न कि किसी न्यायपालिक न्यायालय में प्रवर्तनीय किसी विधिक अधिकार के अंतर्गत निजी थैली के रूप में भारत सरकार द्वारा धन का सम्यक् संदाय सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 60(1)(छ) के अर्थान्तर्गत कठोरतापूर्वक एक राजनैतिक पेंशन है। "पेंशन" अभिव्यक्ति के स्थान पर "निजी थैली" अभिव्यक्ति का प्रयोग ऐतिहासिक कारणों से किया गया है। निजी थैली एक राजनैतिक पेंशन सभी आवश्यक गुणों की पूर्ति करती है और इस प्रकार सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 60(1)(छ) के अन्तर्गत निष्पादन से संरक्षित है। इसके अलावा सरकार से प्राप्त की जाने योग्य निजी थैली की एक रकम को कोई ऐसा ऋण अथवा अन्य सम्पत्ति नहीं कहा जा सकता है जिस पर अथवा जिसके आगमों का सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 60(1) के मुख्य भाग के भीतर उसके पास व्ययन करने की शक्ति हो। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि श्री पाठक की तीसरी दलील को स्वीकार किया जाना चाहिए और यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि निजी थैली की रकम प्रत्यर्थी की डिक्री के निष्पादन में कुर्क किए जाने अथवा विक्रय किए जाने की दायी नहीं हैं।

173. यह मामला इस प्रतिपादना के लिए कि यह एक राजनैतिक पेंशन है, एक नज़ीर है। प्रश्न यह है कि इस निर्णय को **माधव राव**[1] वाले मामले में अभिखंडित किया गया है या नहीं।

174. उक्त विनिश्चय के पैरा 145 पर यह अभिनिर्धारित किया गया है (एस०सी०सी० पृष्ठ 232-33 पैरा 312):—

> "...भारतीय संविधान के प्रवृत्त होने पर निजी थैली के रूप में सामयिक राशियों का संदाय करने के लिए प्रतिभूति संविधान के अनुच्छेद 291 के द्वारा जारी रही है किन्तु उसका आवश्यक राजनैतिक स्वरूप संविधान के अनुच्छेद 363 द्वारा आरक्षित है और इस प्रतिभूति के अंतर्गत बाध्यता को किसी नगरपालिका न्यायालय में प्रवृत्त नहीं कराया जा सकता है। पूर्ण सम्मान सहित हमें प्रतीत होता है कि सभी पूर्वकथित बातें इस मामले का विनिश्चय करने के लिए कठोर रूप से आवश्यक नहीं थीं और यह कहना कि निजी थैली एक पेंशन थी—'एक शब्द जिसका आक्सफोर्ड डिक्शनरी के अनुसार अर्थ विशेष रूप से किसी सरकार, कम्पनी नियोजक इत्यादि द्वारा किया गया सामयिक संदाय है', जिसका स्वरूप राजनैतिक था क्योंकि वह एक राजनैतिक समझौते पर आधारित थी। तथापि, यह न केवल एक विद्वान् न्यायाधीश के मत की अभिव्यक्ति थी बल्कि इस न्यायालय के तीन विद्वान् न्यायाधीशों का दृष्टिकोण था। कुंवर श्री वीर राजेन्द्र सिंह बनाम भारत संघ [(1969) 3 एस०सी०सी० 150 = [1970] 2 एस०सी०आर० 631] में इस न्यायालय की पांच न्यायाधीशों की एक और न्यायपीठ ने अनुच्छेद 291 के अन्तर्गत निजी थैली के संदाय के लिए विधिक कार्यवाहियों का प्रयोग करके इस उपबंध की अप्रवर्तनीयता प्रख्यापित की है। मेरी राय में मेरे द्वारा पहले ही दिए गए तर्क पर यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि निजी थैली का संदाय यद्यपि एक ऐसे आधार पर रखा गया है जो सर्वनाश अथवा खण्डन को वहां तक चुनौती देता है जहां तक पूर्ण सांविधानिक उपबंधों का लागू रहना अन्याय्यता के

[1] [1971] 1 उम० नि० प० 491=(1971)1 एस० सी० सी० 85 = [1971]3 एस०सी०आर० 9.

सांविधानिक वर्जन के अध्यधीन है और विधि के किसी न्यायालय में जिसमें हमारा न्यायालय भी सम्मिलित है, न्यायनिर्णयन द्वारा उसकी पुष्टि नहीं की जा सकती है या सुनिश्चित नहीं किया जा सकता है।"

175. इसके अतिरिक्त एक विनिश्चय के पृष्ठ 193 पर यह अभिनिर्धारित किया है (एस॰सी॰सी॰ पृष्ठ 196, पैरा 228):—

"विद्वान् न्यायाधीशों को उस मामले में विचार करने का कोई अवसर नहीं मिला था और न ही उन्होंने अनुच्छेद 291 अथवा अनुच्छेद 363 के किसी क्षेत्र पर विचार किया था। इस न्यायालय का प्रत्येक मत निस्संदेह महत्व दिए जाने योग्य है किन्तु कोई सिद्धांत निर्णय का स्थान नहीं ले सकता है।"

176. पूर्वोकत का सावधानी से पाठ करने पर यह दर्शित होता है कि जो कुछ अभिखंडित किया गया है, वह राजनैतिक स्वरूप है न कि निजी थैली राजनैतिक पेंशन नहीं है। अन्यथा, यदि वास्तविक रूप से इस निर्णय को अभिखंडित किया जाता है तो **उस्मान अली खान**[1] वाले निर्णय का आधार ही समाप्त हो जाएगा। तब सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 60 के अंतर्गत कुर्क किए जाने योग्य होने के संबंध में तर्क गलत होगा। ऐसा होते हुए श्री सोली जे॰ सोराबजी द्वारा जो तर्क दिया गया है, वह यह है कि अनुच्छेद 291 के अंतर्गत प्रतिभूति अनुच्छेद 363 के होते हुए भी प्रवर्तनीय है। अतएव इस चर्चा से हमें रुके रहना जरूरी नहीं है। अनुच्छेद 363 के क्षेत्र के संबंध में **माधव राव**[2] वाले मामले से पृष्ठ 99 पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है:—

"निजी थैली प्राप्त करने के लिए अधिकार के संबंध में कोई विवाद, अतएव अनुच्छेद 363 के प्रथम भाग के भीतर प्रसंविदा से उद्‌भूत होने वाला कोई विवाद नहीं है और न ही यह किसी प्रसंविदा से सम्बन्धित संविधान के किसी उपबन्ध से उपगत होने वाले किसी अधिकार या बाध्यता के संबंध में किसी प्रसंविदा से कोई विवाद है।

.....किन्तु चूंकि निजी थैली के लिए अधिकार अनुच्छेद 291 के अंतर्गत उद्‌भूत होता है, इसलिए उसके संबंध में विवाद इन खण्डों में से किसी भी खण्ड के भीतर नहीं आता है और इस न्यायालय की अधिकारिता व्यक्तिगत अधिकारों और विशेषाधिकारों से जो स्टेट्यूट द्वारा मंजूर की गई है, संबंधित विवादों के बारे में अपवर्जित नहीं हैं।"

सिंधिया वाले विनिर्णय का क्षेत्र :

177. **माधव राव**[2] वाले मामले के क्षेत्र पर विचार करते हुए एक बात जिसे ध्यान में रखना चाहिए, वह है जो पृष्ठ 75 पर कही गई है, जिसे नीचे दिया गया है (एस॰ सी॰ सी॰ पृष्ठ 147, पैरा 97):—

"क्या संसद् किसी सांविधानिक संशोधन द्वारा शासकों को मंजूर किए गए अधिकारों और विशेषाधिकारों को समाप्त कर सकेगी या नहीं और याचिका में इस पर विचार-विमर्श नहीं किया जा सकता है क्योंकि कोई ऐसा सांविधानिक संशोधन नहीं किया गया है। याची ने राष्ट्रपति के प्राधिकार को अनुच्छेद 366(22) के अंतर्गत शासकों की मान्यता वापस लेने के लिए किए जाने के लिए आशयित एक आदेश द्वारा आक्षेपित किया है जिससे कि उन्हें उन अधिकारों और विशेषाधिकारों से वंचित किया जा सके जिसके लिए शासकों के रूप में अपने स्तर के आधार पर वे हकदार नहीं हैं। (अधोरेखांकित शब्दों पर बल दिया गया है।)

178. इस न्यायालय को सांविधानिक संशोधन क्षेत्र पर जैसा कि यह है। विचार करने का कोई अवसर नहीं मिला था अतएव राष्ट्रपति ने आदेश को अभिखंडित करने के लिए दिए गए समस्त कारण संविधान के अनुच्छेद 366(22) के अंतर्गत आदेश जारी करने के लिए राष्ट्रपति के प्राधिकार तक ही सीमित रहना चाहिए।

179. अब हम अनुच्छेद 368 के अंतर्गत प्रदत्त की गई संशोधन की शक्ति पर विचार करेंगे। संशोधन की वह शक्ति असीमित है। सिवाए इसके कि संविधान के मूलभूत ढांचे को संशोधित नहीं किया जा सकता है। अब वह आधारिक ढांचा क्या है? क्या अनुच्छेद 291, 362, 366 (22) है?

180. **केशवानन्द भारती**[1] वाले मामले में मुख्य न्यायमूर्ति सीकरी ने पृष्ठ 165 पर इस प्रकार कथन किया था जिसे नीचे दिया गया है (एस॰ सी॰ सी॰ पृष्ठ 366, पैरा 292, 293 और 294):—

"विद्वान् महान्यायवादी ने कहा है कि संविधान का प्रत्येक उपबंध अत्यन्त आवश्यक है अन्यथा वह संविधान में नहीं रखा जाता। यह सच है किन्तु इससे संविधान का प्रत्येक उपबंध समान स्थिति का नहीं हो जाता। सही स्थिति यह है कि संविधान का प्रत्येक उपबंध संशोधित किया जा सकता है परन्तु इसके परिणामस्वरूप संविधान का मूलभूत आधार और ढांचा वैसा ही बना रहे। यह कहा जा सकता है कि मूलभूत ढांचा निम्नलिखित तथ्यों से मिल कर बना है:—

(1) संविधान की सर्वोपरिता;

(2) सरकार का गणतन्त्रात्मक और प्रजातन्त्रात्मक रूप;

(3) संविधान का धर्मनिरपेक्ष स्वरूप;

(4) विधानमण्डल, कार्यपालिका और न्यायपालिका के बीच शक्तियों का पृथक्करण।

(5) संविधान की परिसंघीय (फेडरल) प्रकृति।

उपरोक्त ढांचे का मूलभूत आधार व्यक्ति की गरिमा और स्वतंत्रता है। यह अत्यधिक महत्व की बात है। इसे किसी भी प्रकार के संशोधन से नष्ट नहीं किया जा सकता है।

उपरोक्त आधार और उपरोक्त बुनियादी तत्व (बेसिक फीचर्स) संविधान की प्रस्तावना से ही नहीं वरन् उसकी सम्पूर्ण योजना से सरलता से प्रकट हो जाते हैं। इनकी चर्चा मैं पहले ही कर चुका हूं।"

---

[1] [1965] 3 एस॰ सी॰ आर॰ 201 = ए॰ आई॰ आर॰ 1965 एस॰ सी॰ 1798.

[2] [1971] 1 उम॰ नि॰ प॰ 491=(1971) 1 एस॰ सी॰ सी॰ 85 = [1971] 3 एस॰ सी॰ आर॰ 9.

[1] [1973] 2 उम॰ नि॰ प॰ 159=(1973) 4 एस॰ सी॰ सी॰ 225.

181. उक्त निर्णय में न्या॰ शैलेट और ग्रोवर ने पृष्ठ 280 पर कथन किया था, जिसे नीचे दिया गया है (एस॰ सी॰ सी॰ पृष्ठ 454, पैरा 582):—

"संविधान का मूलभूत ढांचा कोई अस्पष्ट धारणा नहीं है और प्रत्यर्थियों की ओर से अभिव्यक्त आशंकाएं कि न तो नागरिक और न संसद् ही इसे समझ पाएंगे, निराधार है। यदि संविधान की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, प्रस्तावना, सम्पूर्ण स्कीम, अनुच्छेद 368 सहित संविधान के सुसंगत उपबंधों को ध्यान में रखा जाए तो यह बात जान लेने में कोई कठिनाई नहीं होगी कि सांविधानिक संरचना के निम्नलिखित मूलभूत तत्व माने जा सकते हैं। (इन्हें तालिकाबद्ध नहीं किया जा सकता किन्तु केवल दृष्टांत के रूप में ही दिया जा सकता है):—

1. संविधान की सर्वोपरिता।
2. गणतन्त्रात्मक और लोकतन्त्रात्मक शासन-पद्धति और देश का प्रभुत्वसम्पन्न होना।
3. संविधान का धर्मनिरपेक्ष एवं परिसंघीय स्वरूप।
4. विधानमण्डल, कार्यपालिका और न्यायपालिका के बीच शक्ति का सीमांकन।
5. भाग 3 में दी गई विभिन्न स्वतंत्रताओं एवं मूल अधिकारों द्वारा सुनिश्चित व्यक्ति विशेष की प्रतिष्ठा और भाग 4 में अन्तर्विष्ट कल्याणकारी राज्य बनाने का आदेश।
6. राष्ट्र की एकता और अखण्डता।"

182. उक्त निर्णय में न्या॰ हेगड़े और मुखर्जी ने पृष्ठ 314 पर इस प्रकार कथन किया था जिसे नीचे दिया गया है (एस॰ सी॰ सी॰ पृष्ठ 480-81, पैरा 651):—

"हमें इस दलील को स्वीकार करना कठिन लगता है कि हमारे संविधान के उन निर्माताओं से, जिन्होंने कि कुछ आदर्शों को प्राप्त करने के लिए घोर बलिदान किए थे, उन्होंने उन आदर्शों को नष्ट करने के लिए स्वयं संविधान में उपबंध किए होंगे। अनुभव और सुदृढ़ राजनैतिक ज्ञान के उन व्यक्तियों ने यह अवश्य समझा होगा कि समय के अनुक्रम में सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक परिवर्तनों का आना निश्चित है और संविधान को ऐसा होना चाहिए कि उसे उन नई समस्याओं के समाधान के लिए अनुकूल बनाया जा सके। हमारा संविधान मात्र केवल राजनैतिक दस्तावेज नहीं है। यह निश्चित रूप से एक सामाजिक दस्तावेज है। यह एक सामाजिक दर्शन पर आधारित है और प्रत्येक धर्म के सदृश प्रत्येक सामाजिक दर्शन के भी दो मुख्य तत्व होते हैं अर्थात् बुनियादी और परिस्थितिजन्य। पहला स्थायी बना रहता है किन्तु दूसरा परिवर्तित होता रहता है। धर्म का दर्शन सदैव स्थायी बना रहता है किन्तु इसके आधार बदलते रहते हैं। इसी प्रकार हमारा जो संविधान है उसमें कुछ ऐसे तत्व हैं जो ऐसे आवश्यक हैं कि उन्हें बदला या नष्ट नहीं किया जा सकता। किसी भी दशा में यह अन्दर से नष्ट नहीं किया जा सकता। दूसरे शब्दों में कोई भी संविधान का प्रयोग उसको नष्ट करने के लिए नहीं कर सकता। अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधित संविधान को ऐसा "संविधान" बना रहना चाहिए जो मूल संविधान कहा जाता है। जब हम संविधान के "निराकरण" और निरसन की बात करते हैं तो हम किसी प्ररूप के प्रति नहीं अपितु सार की ओर निर्देश करते हैं। यदि संविधान के बुनियादी तत्वों में से एक या अधिक उस सीमा तक छीन लिए जाते हैं तो संविधान निराकृत या निरसित हो जाता है। यदि संविधान के समस्त बुनियादी तत्व निरसित कर दिए जाते हैं तो यह अनुच्छेद 368 में निर्दिशित संविधान नहीं रह सकता। संविधान का स्वरूप अपरिवर्तित रहना चाहिए।" (अधोरेखांकित शब्दों पर बल दिया गया है।)

183. आगे पृष्ठ 322 पर इस प्रकार कहा गया था (एस॰ सी॰ सी॰ पृष्ठ 486, पैरा 666):—

"इस मामले के विभिन्न पक्षों पर सावधानीपूर्वक विचार करने के पश्चात् हम इस बात से आश्वस्त हो गए हैं कि संसद् को संविधान के बुनियादी तत्व या मूल तत्वों को निराकृत करने या उसको प्रभावहीन बनाने की शक्ति नहीं है। उदाहरणार्थ भारत की सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्नता, हमारे राजशासन की लोकतांत्रिक प्रकृति, देश की अखण्डता, नागरिकों को सुरक्षित किए गए वैयक्तिक स्वतंत्रताओं के आवश्यक तत्व हैं। संसद् को लोक कल्याणकारी या समतावादी समाज बनाने की आज्ञा को प्रतिसंहृत करने की भी शक्ति नहीं है।"

184. उक्त निर्णय में न्या॰ जगनमोहन रेड्डी ने पृष्ठ 517 पर इस प्रकार कथन किया था जिसे नीचे दिया गया है (एस॰ सी॰ सी॰ पृष्ठ 637, पैरा 1159):—

"अब मैं उस प्रश्न पर विचार करूंगा जिसके संबंध में हमारे समक्ष बहुत जोर देकर बहस की गई है अर्थात् यह कि संविधान में कोई अत्यावश्यक तत्व नहीं है और संविधान का प्रत्येक तत्व ही अत्यावश्यक है और यदि ऐसी बात नहीं होती तो संविधान के अधीन संशोधन करने की शक्ति केवल ऐसे उपबंधों को ही लागू होती जो अब अत्यावश्यक तत्व कहे जाते हैं और इस बात की कल्पना करना कठिन है कि अनुच्छेद 368 का उपबन्ध करने में संविधान निर्माताओं का केवल यही प्रयोजन था और यह कि संविधान में ऐसी विचारधारा पढ़ने का कोई औचित्य नहीं है। यह दलील प्रथमदृष्ट्या आकर्षक है किन्तु यदि हम अपने आप से यह प्रश्न पूछें कि क्या संविधान का कोई ढांचा है या वह ढांचे से रहित है या जैसा कि पिटीशनर के विद्वान् अधिवक्ता ने विशेषण प्रयुक्त किया है, यह एक "रसभरी मछली" (जैली फिश) है तो इसका जो उत्तर होगा उससे हमारी शंका दूर हो जाएगी। यदि संविधान को तन्त्र माना जाए या उसे एक व्यवस्थित लिखित माना जाए या सांविधानिक इंजीनियरी का एक भाग माना जाए, तो जो कुछ भी हो, उसका एक ढांचा या गठन या आधार या नींव होनी

चाहिए। वह जो कुछ भी है वह उसी दशा में सुनिश्चित किया जा सकता है यदि हम उन उपबंधों की परीक्षा करें जिनके संबंध में विद्वान् मुख्य न्यायाधिपति ने काफी विस्तार से विचार किया है और विचार करने के पश्चात् उन्होंने बुनियादी ढांचे के मूल तत्व वर्णित किए हैं। मैं पुनः उसी बात की परीक्षा करना नहीं चाहता। प्रस्तावना में अस्पष्ट या अनिश्चित कुछ भी नहीं है और यदि उसमें जो कुछ कहा गया है, उसकी इस प्रकार आलोचना की जाती है तो यह बात अनुच्छेद 39(ख) और (ग) में जो कुछ वर्णित है, उस पर भी समान रूप से लागू होगी क्योंकि ये भी देश के शासन के लिए मूल उद्देश्य हैं। जनता की बेहतरी और सुख के लिए राज्य को इन्हें प्राप्त करने का आदेश दिया गया है। बुनियादी ढांचे के तत्व प्रस्तावना में वर्णित हैं और संविधान के विभिन्न उपबंधों में कार्यान्वित किए गए हैं। हमारे संविधान की इमारत विभिन्न स्तम्भों से बनी है और उन पर खड़ी है। उनमें से किसी एक को भी हटाने पर संविधान ढह जाएगा। मूल तत्व इस प्रकार हैं— (1) सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य, (2) सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, (3) विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता, (4) प्रतिष्ठा और अवसर की समानता। इनमें से प्रत्येक महत्वपूर्ण हैं और सामूहिक रूप से इनसे भारतीय जनता की जीवन पद्धति सुनिश्चित होती है और संविधान इस जीवन पद्धति की गारण्टी देता है। ऊपर वर्णित किसी भी तत्व को वापस लेने पर ढांचा अस्तित्व में नहीं बना रहेगा और संविधान भी वैसा ही नहीं रहेगा या यह संविधान नहीं रहेगा और न इससे संविधान का मूल तत्व कायम रहेगा, यदि इस संविधान के स्थान पर एक बिल्कुल अलग संविधान प्रतिस्थापित कर दिया जाता है, ऐसा कार्य जनता की सर्वोपरि इच्छा द्वारा ही किया जा सकता है इससे, संविधान का रूप कायम नहीं रह सकता।"

185. उक्त निर्णय में न्या० पालेकर ने पृष्ठ 619 पर इस प्रकार कथन किया था जिसे नीचे दिया गया है (एस० सी० सी० पृष्ठ 716-17, पैरा 1311) :—

"चूंकि श्री पालखीवाला ने जिन सारभूत तत्वों और मूल सिद्धांतों के प्रति निर्देश किया है, वे संविधान के उपबंधों से छांट कर निकाले गए हैं, अतः यह स्पष्ट है कि वे संविधान को दो भागों में विभाजित करना चाहते हैं। एक भाग में वे उपबंध अन्तर्विष्ट हैं जो सारभूत तत्व हैं और दूसरे भाग में वे उपबन्ध अन्तर्विष्ट हैं, जो अत्यावश्यक तत्व नहीं हैं। श्री पालखीवाला के मतानुसार पश्चात्वर्ती संसद् द्वारा किसी भी प्रकार से संशोधित किए जा सकते हैं, किन्तु जहां तक पूर्ववर्ती उपबंधों का सम्बन्ध है, यद्यपि वे संशोधित किए जा सकते हैं किन्तु वे इस प्रकार संशोधित नहीं किए जा सकते जिससे सारभूत तत्वों का मर्म विकृत या नष्ट हो जाए। दो कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं, इस बात का विनिश्चय कौन करे कि अत्यावश्यक उपबंध और अत्यावश्यक न होने वाले उपबंध कौन-से हैं? श्री पालखीवाला के मतानुसार यह कार्य न्यायालय को करना चाहिए। यदि यह बात सही है तो वह कौन-सा स्थिर मानदंड है जिससे न्यायालय को इस बात का विनिश्चय करने में मार्गदर्शन प्राप्त होगा कि कौन-सा उपबंध अत्यावश्यक है और कौन-सा उपबंध अत्यावश्यक नहीं है। एक अर्थ में प्रत्येक उपबंध ही अत्यावश्यक है। क्योंकि यदि संसद् या राज्य विधानमण्डलों द्वारा बनाई गई कोई विधि संविधान के सबसे महत्वहीन उपबंध का भी उल्लंघन करती है तो ऐसी विधि शून्य होगी। इस दृष्टिकोण से संविधान के अधीन कार्य करने वाले न्यायालयों को संविधान के उपबंधों को समान दृष्टि से देखना होगा। दूसरी बात यह है कि यदि कोई अत्यावश्यक उपबंध में संशोधन किया जाता है और नया उपबंध अन्तःस्थापित किया जाता है जो संविधान सभा की राय में निरसित किए गए उपबंध से अधिक अत्यावश्यक समझा जाना चाहिए तो इस संबंध में वह कौन-सी कसौटी है जिसे लागू किए जाने की न्यायालय से अपेक्षा की जाती है। इसका केवल यही अर्थ होगा कि संविधान सभा संविधान में जो कुछ भी परिवर्तन करना आवश्यक समझे, वह निकाय, नीति-संबंधी जो भी परिवर्तन संविधान में पुरःस्थापित करना चाहे, यदि उनकी जरूरत या नीति की बाबत न्यायालय का समाधान नहीं होता है तो वे न्यायालय द्वारा अभिखण्डित किए जा सकते हैं। यह स्पष्ट है कि न्यायालयों का यह कृत्य नहीं है। यह कठिनाई उस समय और बढ़ जाती है जब किसी संशोधन पर इस आधार पर आक्षेप किया जाता है कि सारभूत तत्व का मर्म या तो विकृत या नष्ट कर दिया गया है। इसका मानदंड क्या है। इस बात का विनिश्चय कौन करेगा कि मर्म कहां है और वह कब आता है। यह दलील समझ में आती है कि संविधान के कुछ विशिष्ट उपबंध जिनमें सारभूत तत्व सन्निविष्ट हैं, बिल्कुल भी संशोधित नहीं किए जा सकते। किन्तु कठिनाई तब उत्पन्न होती है जब यह मान लिया जाता है कि उपबंध का संशोधन किया जा सकता है। किन्तु वह इस प्रकार संशोधित नहीं किया जा सकता कि उसका मर्म प्रभावित हो जाए। इस कठिनाई के अलावा इस बात का अवधारण करने में कि सारभूत तत्व का मर्म कहां है, ऐसा प्रतीत होता है कि यह बात पर्याप्त रूप में अनुभव नहीं की गई है कि इससे संविधान को कार्यान्वित करने में कौन-सी विचित्र कठिनाइयां होंगी। यह मान लें कि किसी उपबंध में इस वर्ष कोई संशोधन किया जाता है तो इस तथ्यमात्र से कि कोई संशोधन किया गया है, संशोधन के अकृत करने के लिए इस न्यायालय में आने का किसी निकाय को इस आधार पर कोई अधिकार नहीं मिल जाता है कि संशोधन किसी सारभूत तत्व के मर्म को प्रभावित करता है। जब कभी किसी संशोधित उपबंध के अधीन कोई विधि बनाई जाती है और विधि से किसी व्यक्ति के अधिकार प्रभावित होते हैं तब वह न्यायालय में आवेदन कर सकता है। उस समय पहले वह यह बतलाएगा कि संशोधन अवैध है क्योंकि उससे

किसी सारभूत तत्व का मर्म प्रभावित होता है और यदि वह इसमें सफल हो जाता है तो वह अपने आप सफल हो जाएगा और विधानमंडल द्वारा इस विश्वास के साथ बनाई गई विधि, कि वह संशोधित संविधान द्वारा संरक्षित है, शून्य कर दी जाएगी।"

186. न्या० खन्ना ने उक्त निर्णय में पृष्ठ 720 पर इस प्रकार कथन किया था जो नीचे दिया गया है (एस० सी० सी० पृष्ठ 794, पैरा 1483):—

"जहां तक सवाल यह है कि क्या यह कहा जा सकता है कि सम्पत्ति का अधिकार संविधान के बुनियादी ढांचे तथा उसकी रूपरेखा के साथ सम्बद्ध है, मेरी राय में, इसका उत्तर, स्पष्ट रूप से, 'नहीं' में दिया जाएगा।"

187. उक्त निर्णय में न्या० मैथ्यू ने पृष्ठ 827-28 पर इस प्रकार कथन किया था, जिसे नीचे दिया गया है (एस० सी० सी० पृष्ठ 875, पैरा 1698 और 1699):—

"मूल अधिकारों के मर्म या सार से पता लग जाने पर भी प्रश्न यही विचारणीय रह जाता है कि क्या संशोधन निकाय (अमेंण्डिग बाडी) उसे इस प्रकार संशोधित कर सकता है कि उससे उक्त मर्म क्षतिग्रस्त या नष्ट हो जाए। मैं पहले ही कह चुका हूं कि न्याय की दृष्टि से अथवा सामान्य हित या 'प्रजातन्त्रीय समाज के सामान्य कल्याण' की दृष्टि से मूल अधिकारों को न्यून करने या छीन लेने की अपेक्षा की जा सकती है।

मैंने संशोधन-शक्ति पर विवक्षित परिसीमा के सिद्धांत की जांच ठीक उसी प्रकार की है जिस प्रकार कि ओल्ड टेस्टामेण्ट में जेकब ने एन्जेल से सारी रात संघर्ष किया है। मैं अभी तक नहीं समझ सका हूं कि इस परिसीमा का स्रोत क्या है। क्या इसका कारण यह है कि संविधान निर्माताओं का ऐसा आशय था और उन्होंने इसे (आशय) अपरिवर्तनीय रूपरेखा में उसे समाविष्ट कर दिया है। यदि ऐसा है तो इससे एक आधारित प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या ऐसा आशय आने वाली पीढ़ियों को हमेशा ही शासित करता रहेगा। यदि आप जेफर्सन के सिद्धांत से सहमत हैं, जिसका उल्लेख मैं ऊपर कर चुका हूं और जिसे डा० अम्बेडकर ने, जो हमारे संविधान के प्रधान निर्माता हैं, पूर्णतः स्वीकार किया है, और जो मेरे विचार से एकमात्र बुद्धिमतापूर्ण सिद्धांत है, जो विवक्षित परिसीमाओं का सिद्धांत निराधार है। यदि ऐसा न होता तो वास्तविकता इस प्रकार होती—कुछ व्यक्तियों के प्रतिनिधि—हमारे संविधान निर्माता सम्पूर्ण जनता को सदैव के लिए आबद्ध कर देते और उन्हें अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से संविधान के ढांचे में परिर्वतन करने से रोक देते। साथ ही संविधान के बुनियादी ढांचे की पवित्रता क्या है? गणतन्त्रीय सरकार का, जिसे सम्पूर्ण ढांचे का अपरिहार्य आधार माना जाता है, उदाहरण दिया जा सकता है। क्या इतिहास के पृष्ठों में भटकने के पश्चात् मानवजाति का अन्तिम और अपरिवर्तनीय अधिमत यही है कि वही (गणतन्त्रीय) सर्वोत्तम सरकार है? क्या इतिहास से यह दर्शित नहीं होता है कि मानवजाति की धारणा सरकार की किस्मत के बारे में पीढ़ी-दर-पीढ़ी बदलती जा रही है? क्या महान दार्शनिकों एवं विचारकों ने इस विषय पर सदैव ही भिन्न मत व्यक्त नहीं किए हैं? क्या प्लेटो ने संरक्षकों (गार्जियन) के शासन को अधिमान नहीं दिया है? क्या विद्वान् अरस्तु को उस समय भ्रम हो गया था जबकि उन्होंने मिश्रित सरकार को अधिक अच्छा बताया है? जब पहले कभी एकमत नहीं था तो भविष्य मे ऐसे एकमत की आशा कैसे की जा सकती है।"

188. इस मामले और **गोलक नाथ**[1] के विनिश्चय पर टिप्पण करते हुए पदेन मुख्य न्यायाधीश ने "दी टू जजमेंट्स: **गोलक नाथ**[1] एण्ड **केशवानन्द भारती**[2]" में पृष्ठ 18 पर इस प्रकार कहा है:—

"परिणाम यह है कि उच्च न्यायालय ने बहुमत द्वारा यह घोषणा की थी कि संसद् भारतीय संविधान के अंतर्गत सर्वोच्च नहीं है, अर्थात् वह संविधान के मूलभूत ढांचे को परिवर्तित नहीं कर सकती है। उसने बहुमत द्वारा यह भी घोषित किया था कि कतिपय परिस्थितियों के अंतर्गत सम्पत्ति के अधिकार से भिन्न मूल अधिकारों का संशोधन मूलभूत ढांचे पर प्रभाव डालेगा और इसलिए शून्य होगा। यह प्रश्न कि क्या सम्पत्ति के मूल अधिकार का संशोधन कुछ परिस्थितियों के अंतर्गत संविधान के मूलभूत ढांचे पर प्रभाव डालेगा, संदेह से मुक्त नहीं है। इसका उत्तर उच्चतम न्यायालय के उस मत पर निर्भर करता है जो उसने इसके पश्चात् माननीय न्या० मैथ्यू, बेग, द्विवेदी और चन्द्रचूड़ के मतों से प्रभावित होकर लिया है। मूल अधिकार संविधान के मूलभूत तत्व है—छह न्यायाधीशों के मत पर जिन्होंने यह अभिनिर्धारित किया था कि मूल अधिकारों का मर्म संविधान के मूलभूत ढांचे का भाग है। एक संभव दृष्टिकोण यह है कि एक साथ मिलकर वे मूलभूत ढांचे के तत्व पर एक स्पष्ट बहुमत विरचित करते हैं; एक दूसरा संभव दृष्टिकोण यह है कि उनके मत का पाठ उनके इस निष्कर्ष के साथ किया जाना चाहिए कि सम्पूर्ण संविधान संभवतया सिवाय सरकार की मशीन के संशोधन द्वारा निरसित किया जा सकता है।" (अधोरेखांकित शब्दों पर बल दिया गया है।)

189. यदि विधि यह है तो प्रश्न यह होगा कि क्या अनुच्छेद 291, 362, 366(22) कदापि एक मूलभूत ढांचा विरचित करने के लिए आशयित किए जा सकते थे। इसका उत्तर नकारात्मक होना चाहिए। वे सम्पूर्णतया लागू नहीं होते हैं जिसके अन्तर्गत पूरा संविधान आ जाए कि इन उपबंधों का अभाव संविधान के स्वरूप और प्रकृति को परिवर्तित कर देगा। इस प्रश्न की जांच करते हुए कि क्या यह अनुच्छेद मूलभूत ढांचा गठित करते हैं, किसी को भी संविधान के अनुच्छेद 363 को ध्यान में

[1] [1967] 2 एस० सी० आर० 762=ए० आई० आर० 1967 एस० सी० 1643.
[2] [1973] 2 उम० नि० प० 159 = [1973] 4 एस० सी० आर० 225.

रखना चाहिए। उन्हें विधि के न्यायालय में अप्रवर्तनीय बना दिया गया है। यदि वास्तविक रूप से मूलभूत ढांचा विरचित करते हैं तो क्या वह एक तत्स्थानी अधिकार नहीं होगा जिसका उपबंध अनुच्छेद 32(4) के अन्तर्गत किया गया है।

उद्देशिका के मुकाबले मे संशोधन का उद्देश्य

190. **इंदिरा नेहरू गांधी**[1] वाले मामले मे पैरा 663 में निम्नलिखित मत अभिव्यक्त किए गए हैं: (एस॰ सी॰ सी॰ पृष्ठ 252-53, पैरा 665):—

> "अतः यद्यपि हमारे संविधान की प्रस्तावना पर मतदान हुआ था और वह संविधान का भाग है, तथापि वास्तव में वह 'उन कारणों का प्रारम्भिक कथन मात्र है' जिनसे संविधान का पारित किया जाना आवश्यक और वांछनीय हो गया था। जैसा न्यायाधिपति गजेन्द्रगडकर ने बेरूबाड़ी यूनियन एण्ड एक्सचेन्ज ऑफ इन्कलेव्स वाले मामले [(1960) 2 एस॰ सी॰ आर॰ 250, 282] में मत व्यक्त किया था, अमरीका के संविधान की प्रस्तावना के बारे में विलोबी ने जो कुछ कहा है; अर्थात् यह कि वह किसी भी मूलभूत शक्ति का स्रोत कभी भी नहीं मानी गई है, वही बात प्रतिषेधों और परिसीमाओं के बारे में सम्मान रूप से सच है। अतः हमारे संविधान की प्रस्तावना को किन्हीं भी प्रतिषेधों या परिसीमाओं के स्रोत के रूप में नहीं माना जा सकता।"

191. अतएव, उद्देशिका के क्षेत्र के संबंध में ध्यान रखना चाहिए, जिसमें यह कहा गया है:—

> "किन्हीं चालू कृत्यों और सामाजिक प्रयोजनों से असम्बद्ध निजी थैलियों तथा विशेष सुविधाओं सहित शासकता की धारणा समतावादी सामाजिक व्यवस्था से बेमेल है। सरकार ने अतएव पूर्ववर्ती भारतीय शासकों की निजी थैलियों और विशेषाधिकारों के पर्यवसान करने का विनिश्चय किया था। संविधान के सुसंगत उपबंधों का संशोधन करने के अलावा उसमें एक नया अनुच्छेद अन्तःस्थापित करना इस प्रयोजन के लिए आवश्यक है जिससे कि ऐसे शासकों को पहले ही प्रदान की गई मान्यता को अभिव्यक्त रूप से समाप्त किया जाए और निजी थैलियों को खत्म किया जाए तथा निजी थैलियों के सम्बन्ध में सभी अधिकारों, दायित्वों और बाध्यताओं को निर्वापित किया जाए।"

192. यदि छब्बीसवें संशोधन का उद्देश्य एक समतावादी समाज स्थापित करना था जो इस शानदार उद्देशिका से संगत है तो किस प्रकार इस उपबंध को एक मूलभूत ढांचा कहा जा सकता है। निस्संदेह, **माधव राव**[2] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि यह उपबंध इस देश के संविधान का एक अखण्ड भाग है। इस तथ्य के अलावा कि ये सभी कारण अनुच्छेद 366(22) के अंतर्गत राष्ट्रपति की शक्ति के विरुद्ध किए गए थे, फिर भी यह कथन मूलभूत ढांचे की कोटि का नहीं हो सकता है। न ही इससे वह अभिप्रेत होगा जो मूलभूत ढांचे से है।

193. इस बात का अवधारण करने के लिए कि यह उपबंध मूलभूत ढांचा गठित करते हैं या नहीं, उन्हें ऐतिहासिक आधार-भूमि में देखा नहीं जा सकता है। इन उपबंधों को निरसित करके संविधान का स्वरूप परिवर्तित नहीं हुआ है। भारत अब भी अपना स्वरूप बनाए हुए है और यह कहना कठिन है कि उसका स्वरूप परिवर्तित हो गया है।

समय और विधि का परिवर्तन

194. प्रतिभूतियों के वापस लेने का परिणाम मात्र एक मुआवज़े का शून्यकरण हो सकता है किन्तु यदि जनता की इच्छा एक समतावादी समाज स्थापित करने की है तो वह इच्छा समय के परिवर्तन के साथ-साथ उसके अनुरूप होनी चाहिए। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि विधि सभी आने वाले समय में निश्चल नहीं रह सकती है। **केशवानन्द भारती**[1] वाले मामले में न्या॰ मैथ्यू का उद्धरण इस पहलू पर प्रकाश डालता है जो नीचे दिया गया है: (एस॰ सी॰ सी॰ पृष्ठ 875, पैरा 1698):—

> "मूल अधिकारों के मर्म या सार से पता लग जाने पर भी प्रश्न यही विचारणीय रह जाता है कि क्या संशोधन-निकाय (अमेण्डिंग बाडी) उसे इस प्रकार संशोधित कर सकता है कि उससे उक्त मर्म क्षतिग्रस्त या नष्ट हो जाए। मैं पहले ही कह चुका हूं कि न्याय की दृष्टि से अथवा सामान्य हित या 'प्रजातन्त्रीय समाज का सामान्य कल्याण' की दृष्टि से मूल अधिकारों को न्यून करने या छीन लेने की अपेक्षा की जा सकती है।"

195. **बीम्स** बनाम **यूनाइटेड स्टेट्स**[2] वाला मामला **फ्रांसिज़ कोराली मुल्लिन** बनाम **प्रशासक, दिल्ली संघ राज्य क्षेत्र**[3] में इस पहलू पर विधि को बलपूर्वक कथित किया गया है जो नीचे दी गई है:—

> "सामयिक कृत्य परिवर्तनशील है, वह नवीन शर्तों और प्रयोजनों को अस्तित्वशील बनाता है। इसलिए यह आवश्यक है कि किसी सिद्धांत को मार्मिक बनाने के लिए उसे ऐसा बनाया जाए कि वह उस रिष्टि से व्यापकतर रूप से लागू किए जाने हेतु समर्थ बनाया जाना चाहिए जिससे कि वह रिष्टि उत्पन्न हुई थी। वह विशेषतः संविधानों के बारे में सही है। वे स्वल्पायु वाली अधिनियमितियां नहीं होती जो गतिशील अवसरों पर पूरा उतरने के लिए अभिकल्पित की गई हों। मुख्य

[1] [1976] 1 उम॰ नि॰ प॰ 1 = (1975) सप्ली॰ एस॰ सी॰ सी॰ 1

[2] (1971) 3 उम॰ नि॰ प॰ 491= (1971) 1 एस॰ सी॰ सी॰ 85= [1971] 3 एस॰ सी॰ आर॰ 9.

[1] [1973] 2 उम॰ नि॰ प॰ 159=(1973) 4 एस॰ सी॰ सी॰ 225.

[2] 217 यू॰ एस॰ 349 = 54 लायर्स एडीशन 793, 801 (1909).

[3] [1981] 4 उम॰ नि॰ प॰ 1133=(1981) 1 एस॰ सी॰ सी॰ 608, 617 = (1981) 1 एस॰ सी॰ सी॰ कि॰ 12.

न्यायाधिपति मार्शल के शब्दों का उपयोग करते हुए, वे 'अनश्वरता (स्थिरता) को प्राप्त करने के लिए वहां तक अभिकल्पित हैं जहां तक कि मानविक संस्थाएं कर सकती हैं।' भावी समय पर वे सतर्कता बरतते हैं और अच्छी और बुरी प्रवृत्तियों की घटनाओं के लिए उपबन्ध करते हैं जिनके बारे में पूर्वाशंसा नहीं की जा सकती, इसलिए किसी संविधान के लागू किए जाने में हमारा अनुध्यान केवल यह नहीं हो सकता कि क्या हुआ बल्कि यह कि क्या हो सकता है। किसी अन्य नियम के अधीन संविधान वस्तुतः इतनी सुगमता से लागू किया जाएगा जिससे कि वह दक्षता और क्षति में क्षीण है। इसके सामान्य सिद्धांत मूल्यहीन होंगे और उन्हें पंगु तथा निर्जीव सूत्रों के रूप में पूर्वोदाहरण द्वारा संपरिवर्तित कर दिया जाएगा। हो सकता है कि वे शब्दों में जिन अधिकारों को घोषित किया गया है वे वास्तविकता में विनष्ट हो जाएं और यह अभिज्ञात किया गया है। संविधान का अर्थ और मार्मिकता संकीर्ण और निर्बंधनात्मक अर्थान्वियन के मुकाबले में विकसित हैं।"

(ज़ोर देने के लिए रेखांकित)

196. दी बिल आफ राइट्स एंड दी पोलिटिक्स आफ इन्टरप्रेटेशन में रोबर्ट एस० पैक ने पृष्ठ 316-317 पर इस प्रकार कहा है, जिसे नीचे दिया गया है:—

"यह संविधान तब न तो एक प्रारम्भ है और न ही कोई अंत किन्तु एक समयहीन प्रक्रिया का एक भाग है। कोई संविधान जो 'आने वाले युगों तक कायम रहने के लिए आशयित हो' मैकलोच बनाम मैरीलैंड [17 यू०एस० (4 व्हीट) 316 : 4 लाईयर्स एडीशन 579 (1819)] एक बंद पद्धति अथवा अस्थायी रूप से आबद्ध होने वाला नहीं कहा जा सकता है। संविधान को अधिक समुचित रूप से इतिहास की धारा के एक भाग के रूप में देखा गया है। वह धारा सदैव अटूट नहीं होती और बराबर भारी परिवर्तन होते रहते हैं। यह कि उसका मार्ग बन्द हो गया है, यह आश्चर्यजनक नहीं है चूंकि इतिहास पूर्ववर्ती घटनाओं के अनुसार एक स्थायी और पूर्व-कथनीय प्रगति नहीं है। फिर भी सांविधानिक अधिकारों को इस प्रकार समझा जाना चाहिए जैसे कि वे एक ही ऐतिहासिक धारा से निकल रहे हों। आज के निष्कर्षों को सैद्धांतिक विश्वासोत्पादक बने रहने के लिए पूर्ववर्ती उत्पत्तियों के साथ सम्बद्ध करने की जरूरत है। जब मामले न्यायालयों के समक्ष आते हैं तो प्रयोजन और कालातीत स्वरूप के विचारों को उन व्यावहारिक नियमों में ढालना अपेक्षित होता है जो उनकी अत्याधुनिक अभिव्यक्तियों को लागू होते हैं। इस प्रकार से न्यायालय विभिन्न तंतुओं को एक संसक्त व्यवस्था में जोड़ते हुए एक मध्यस्थता का कार्य करते हैं किन्तु न्यायालय सांविधानिक विधि को संसक्तता देने में किसी अनन्य अधिकार का प्रयोग नहीं करते हैं। राजनैतिक नेता और राजनैतिक संस्थाओं ने सांविधानिक आजादी को बढ़ावा देते हुए उपलभ्य विधि और उसकी बनावट दोनों को आगे बढ़ाते हुए इस चरित्र को अच्छी तरह निभाया है। भारी सांविधानिक उपबंधों को सावधानी के साथ लागू किया जाना चाहिए। न्या० ओलिवर वैन्डल होम्स ने हमें इस बात का ध्यान दिलाया था "कुछ ये पाते हैं कि विधानमंडल स्वतंत्रताओं और लोक-कल्याण के उतने ही बड़े संरक्षक हैं जितने कि न्यायालय हैं।" (मिसोरी कन्सास एण्ड टैक्सास रेलवे कंपनी बनाम में [194 यू० एस० 267, 270 = 48 लाईयर्स एडीशन 971 (1904)]

न्यायालय राजनैतिक झोंकों से अलग होते हैं जो थप्पड़ लगाते हैं, प्रेरित करते हैं और कभी-कभी विधानमंडल को असमर्थ बनाते हैं। इस वृहत्तर राजनैतिक संसार से यह स्वतंत्रता उन कृत्यों का सफलतापूर्वक निर्वहन करने के लिए खतरनाक है जो हम न्यायपालिका को समनुदिष्ट करते हैं, फिर भी यह न्यायालय स्वयं अपने एक राजनैतिक संसार में सक्रिय रहते हैं। राजनीतियों की इस विविधता में न्यायालयों को भूत को वर्तमान के साथ संयोजित करते हुए संकल्प के साथ संघर्ष करना, निरन्तरता के साथ परिवर्तन करना चाहिए और उन्हें विभिन्न प्रकार के हितबद्ध समूहों के साथ रखना चाहिए जो अपने कार्यों और अपने तर्कों की अपील द्वारा इस प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं।"

197. एक विख्यात कवि जेम्स रसल लोवैल के शब्दों में:—

"नए अवसर नए कर्तव्य सिखाते हैं;
समय पुरानी अच्छाई को असभ्य बना देता है;
उन्हें ऊपर चढ़ते रहना चाहिए और आगे
बढ़ते रहना चाहिए,
जो सच्चाई के साथ-साथ चलेंगे।"

198. निस्संदेह भारत की एकता और अखण्डता जैसा कि **केशवानन्द भारती**[1] वाले मामले में अधिकथित किया गया है, बुनियादी ढांचा गठित करेगी किन्तु यह कथन करना एक असद्भाविक द्वावा है कि इन अनुच्छेदों में दी गई प्रतिभूतियां और आश्वासन देश की एकता और अखण्डता की प्रक्रिया में समाप्त हो गए हैं। कोई भी इस तथ्य को नजरअन्दाज़ नहीं कर सकता है कि यह जनता की इच्छा थी और स्वतंत्र भारत के स्वतंत्र वातावरण में समान नागरिकों के रूप में सांस लेने की ख्वाहिश थी जिनके कारण इन राजकुमारों के राज्यों का विलयन हुआ था। अतः यह दलील कि अनुच्छेद 291 और 362 द्वारा भारत का सहज एकीकरण सुलभ हुआ था, अस्वीकार्य है।

199. अब अनुच्छेद 14 के उल्लंघन के संबंध में यह सत्य है, जैसा कि **भीम सिंह जी**[2] वाले मामले में अभिकथित किया गया है कि यदि किसी संविधान का कोई विशेष उपबंध अनुच्छेद 14 का उल्लंघन करता है तो यह संविधान के बुनियादी ढांचे पर प्रभाव डालेगा। यह मामला नगर भूमि (अधिकतम सीमा और विनियमन) अधिनियम, 1976 की धारा 27(1)

---

[1] [1973] 2 उम० नि० प० 159=(1973) 4 एस० सी० सी० 225.

[2] [1981] 4 उम० नि० प० 288=(1981) 1 एस० सी० सी० 166.

की विधिमान्यता के संबंध में था। भीम सिंह जी उपरोक्त वाले मामले में निर्णय के सुसंगत भाग को अब उद्धृत किया जा सकता है (एस० सी० सी० शीर्ष-टिप्पण):—

न्या० तुलज़ापुरकर के अनुसार—

"इसके अतिरिक्त धारा 27(1) के अंतर्गत निर्बन्धन, अनुज्ञा प्रदान करने या प्रदान करने से इंकार करने के मामले में सक्षम प्राधिकारी की ओर से शक्ति के प्रयोग को शासित करने वाले किन्हीं मार्गदर्शक सिद्धांतों के अभाव में अत्यन्त मनमाने, भेदभावपूर्ण परिणाम उत्पादित करने वाला है और इसलिए अनुच्छेद 14 के समानता खण्ड का उल्लंघन करता है। उद्देशिका में वर्णित तीन उद्देश्यों में किसी विशेष मामले में सक्षम प्राधिकारी द्वारा शक्ति के प्रयोग में मार्गदर्शन करना चाहिए, स्पष्ट नहीं है और जो भी हो, नगर भूमि अथवा नगर सम्पत्ति में केन्द्रीयकरण अनुमान और लाभ कमाने का निवारण करने के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए कोई स्तरमान अधिकथित नहीं किया गया है। इन्हीं कारणों से, धारा 27 के अन्तर्गत सक्षम प्राधिकारी द्वारा पारित आदेश के विरुद्ध धारा 33 और 34 के अंतर्गत अपील और पुनरीक्षण के लिए उपबंध अनुमति प्रदान अथवा प्रदान करने से इंकार करने के मामले में मनमानेपन का निवारण करने के लिए अधिक लाभप्रद नहीं होंगे। धारा 27 इस प्रकार अविधिमान्य और असंवैधानिक है।"

मुख्य न्या० चन्द्रचूड़, न्या भगवती और न्या० कृष्ण अय्यर— (सहमत)

" इस अधिनियम की धारा 27 की उपधारा (1) वहां तक अविधिमान्य है जहां तक यह किसी इमारत या ऐसी इमारत के केवल किसी भाग के साथ किसी नगर अथवा नगरीय भूमि के अंतरण पर जो अधिकतम सीमा क्षेत्र के भीतर है, निर्बन्धन अधिरोपित करती है। ऐसी सम्पत्ति अथवा अधिनियम की उपधारा (1) में वर्णित रुकावटों के बिना अंतरणीय होगी।" (पैरा 5, 8 और 10)

न्या० कृष्णा अय्यर—(सहमत)

"मैं विद्वान् मुख्य न्या० के साथ इस विधान की संवैधानिकता तथा धारा 27(1) की आंशिक विधिमान्यता दोनों के संबंध में सहमत हूं।"

न्या० सेन के अनुसार—

"धारा 23 की उपधारा (1), (2) और (3) धारा 23(4) में "उपधारा (1), (2) और (3) के उपबंधों के अध्यधीन" आरंभिक शब्द संसद् द्वारा अवैध कर दिए गए हैं और संविधान के अनुच्छेद 31-ख और 31-ग द्वारा संरक्षित नहीं है और इसके अतिरिक्त धारा 27(1) वहां तक अविधिमान्य है जहां तक यह अधिकतम सीमाओं के भीतर रिक्त भूमि अथवा उस पर इमारत के संबंध में अधिनियम के प्रारंभ से दस वर्ष की अवधि तक नगर सम्पत्ति के अंतरण पर कोई निर्बन्धन अधिरोपित करती है।"

200. न्या० कृष्ण अय्यर ने उक्त निर्णय में पृष्ठ 186 पर कथन किया था, जिसे नीचे दिया गया है—

"बुनियादी ढांचे का भंग होने का प्रश्न उस समय उठाया नहीं जा सकता है जब हम किसी सांविधानिक संशोधन से भिन्न एक साधारण विधान की विधिमान्यता की जांच करते हैं। केशवानन्द भारती वाला मामला भूस्वामी वर्ग का उस समय अंतिम आश्रय नहीं हो सकता है जब हितैषी विधान सामाजिक हित के लिए उनके "आधिक्य" को छीन लेता है। न ही यह जरूरी है कि समानता का प्रत्येक भंग बुनियादी ढांचे के घातक उल्लंघन के रूप में विनाशकारी हो। बाह्य असमानता उस समय अपरिहार्य है जब भारी स्तर पर समकरण प्रक्रियाएं कार्यरत हों। यदि उच्चतम न्यायालय के समस्त न्यायाधीश सत्यनिष्ठ सत्र में बैठें और आधे वर्ष तक सुस्पष्ट आर्थिक समानता को कम करने वाला कोई विधान लाने के लिए विचार करें तो उनकी प्रतिभा उन्हें नीचे दिखा देगी यदि प्रयास बाह्य असमानताओं से बचने के लिए ही है। हर बड़े मुद्दे के लिए कोई बलिदान देना होता है। जैसा कि समाज वैज्ञानिकों को सुज्ञात है। अतएव बुनियादी ढांचे का भंग क्या है, यह मात्र अनुच्छेद 14 का उल्लंघन नहीं है बल्कि समान न्याय की एक दहलाने वाला, अनैतिक अथवा कुरूप विडंबना है। यदि कोई विधान यहां तक जाता है तो यह प्रजातंत्रात्मक बुनियाद को हिला देता है और इसे मृत्युदंड भोगना चाहिए। किन्तु भारती वाले मामले की प्रेतात्मा को असमानता को प्रत्येक विशेषता के लिए घातक रिटें उत्पन्न करने के लिए न्यायालय के गलियारों में मंडराने की अनुमति देना संसदात्मक कार्यकरण की न्यायिक गतिहीनता है। न ही बुनियादी ढांचे के सिद्धांत के लिए सांविधानिक आकर्षण को एक नयी सामाजिक व्यवस्था के लिए लड़ने के लिए तथा "बुनियादी ढांचे के प्रक्षेपणास्त्र द्वारा बुनियादी गरीबी को समाप्त करने की लड़ाई पर काबू पाने के लिए सम्पूर्ण विधायी कैंप में गहराई तक जाने के लिए एक ट्रोजन होर्स बनाया जा सकता है। अधिक बुनियादी क्या है? समस्त मानव अधिकारों की अवहेलना करने वाली कठोर, घातक और व्यापक दरिद्रता को समाप्त करना अथवा पूर्ण संतुलन और यथापूर्ण स्थिति बनाए रखने के लिए आकर्षक रूप से प्रस्तुत की गई पूर्ण समानता की विधि की पुष्टि करना है? संविधान का उपयोग संविधान को चुनौती देने के लिए, करने का न्यायपालिका से समर्थन नहीं मिल सकता है। मुझे कोई संदेह नहीं है कि कठोर, भयानक सामाजिक असमानता को सुरक्षित करने के लिए समानता के प्रक्षेपणास्त्र का उपयोग करने की चाल एक ऐसी युक्ति है जिसे इस न्यायालय द्वारा संक्षिप्त रूप से अपराध स्वीकार करवा देना चाहिए। समानता और विकास के आदेश लागू किए जाने के लिए विकल हैं और न्यायिक बहाने कदापि नहीं दिए जाने चाहिएं जिससे कि वे जो एक समाजिक न्याय के साथ आर्थिक स्थानान्तरण करने के लिए उत्तरदायी हैं, तुरन्त ही पहचाने जाएं और सामने आ जाएं। भाग IV राष्ट्र का एक मूल उद्देश्य है और अब न्यायालय नगर

अधिकतम सीमा विधि की पुष्टि करता है जो कार्यपालिका के कार्यान्वयन का एक सामाजिक लेखा है जो एक या दो वर्ष पश्चात् जो कानूनी पुस्तिका के क्रियार्थ और विधि के लागू करने में कार्यपालिका की लापरवाही के बीच दरार डालने वाले अंतराल को प्रकाश में लाएगा। यह न्यायालय नगर और विधि संबंधी भूमि सुधार की दुःखद घटना में नायक के खिलाफ नहीं है।"

201. इस मामले में संशोधन न तो असमानों को समानों के रूप में बरतता है या किसी प्रकार से अनुच्छेद 14 का उल्लंघन करता है। समस्त निजी थैलियों के धारकों को, उन समस्त विशेषाधिकारों को वापस लेकर, समान रूप से बरता गया है।

202. इस मामले का अगला पहलू यह है कि न्यायालय इन आश्वासनों और प्रतिभूतियों को वापस लेने में नैतिकता पर विचार कर सकता है।

203. लूइस ब्लोम-कूपर गेविन ड्रेवरी द्वारा लिखित ला एण्ड मोरेलिटी के पृष्ठ 2 से लिया गया निम्नलिखित उद्धरण अत्यन्त लाभदायी है—

"विधि और नैतिकताओं के बीच में संबंध प्रभावी रूप से चतुर विभागीय है किन्तु यह केवल चौथा भाग है जो हमारे वर्तमान हित को लागू होता है। प्रथम भाग एक ऐतिहासिक और सामान्य प्रश्न है। क्या विधि नैतिक सिद्धांतों द्वारा प्रभावित हुई है? इस बात में किसी को संदेह नहीं है कि उत्तर सकारात्मक है; इसके विपरीत विधि ने नैतिक सिद्धांतों को प्रभावित किया है। आत्महत्या अधिनियम, 1961 ने निस्संदेह बहुत पहले से इस दृष्टिकोण को पूर्ण रूप से प्रभावित किया था कि किसी का जीवन लेना विधि से विरुद्ध एक अपराध है। एक ऐसा दृष्टिकोण है जिसे न्यायपालिका द्वारा सदैव माना नहीं गया था (मूल रूप से उतनी ही सम्मति के साथ संबंध रखने वाले जितने सैद्धांतिक नैतिकता के साथ संबंध रखने वाले कारणों से)। कानूनी तौर पर आत्महत्या करने के अपराध ने नैतिक प्रवृत्ति का प्रतिज्ञान किया था और उसे पुष्ट किया था।

द्वितीय भाग में यह प्रश्न किया गया है कि क्या विधि आवश्यक रूप से नैतिकता के प्रति कोई भी निर्दिष्ट करती है; क्या नैतिकता और विधि व्यावहारिक रूप से परस्पर व्याप्त हैं, केवल इस कारण कि दोनों अधिकारों और कर्तव्यों की सामान्य शब्दावली में आते हैं। यह संभव है कि स्वाभाविक विधिवेत्ता और विधिक प्रत्यक्षवादी अत्यन्त भीषण रूप से संविवाद में व्यस्त हो गए हैं। प्रतिद्वंदियों ने अस्थायी तौर पर इस व्यर्थ तर्क में आश्रय लिया है कि क्या विधि पर नैतिक टीका-टिप्पणी की जा सकती है।

क्या विधि का नियम 'समुचित रूप से' जिसे (सांविधानिक निबन्धनों में) लिया गया था, कुछ नैतिक सिद्धांतों के विरुद्ध अभिनिर्धारित किया जा सकता है? वे जिन्होंने संसद् को वार डेमेज ऐक्ट, 1965 के माध्यम से राज्य सभा को बर्मा आयल कंपनी **बनाम** लार्ड एडवोकेट [(1965) ए०सी० 75=2 ऑल इंग्लैंड लॉ रिपोर्ट्स 348 (एच०एल०)] में विनिश्चय को भूतलक्षी प्रभाव से उलटते हुए देखा था और इस प्रकार उसके परिणामस्वरूप एक भारी कारपोरेशन को उसकी मुकदमेबाजी के परिणामों से वंचित होते हुए देखा था तुरन्त ही विधि और राजनीति को यदि सामाजिक नैतिकता को नहीं, अलग करने को अभिस्वीकार करेंगे। किसी भी दशा में, क्या यह महत्वपूर्ण है कि विधि अनन्त काल के लिए अधिनियमित की गई है, यदि हम सभी उसके द्वारा आबद्ध हैं? उसकी प्रवर्तनीयता (यदि वास्तविक रूप से उसका प्रवर्तन नहीं हुआ है) ऐसे सैद्धांतिक आक्षेपों द्वारा प्रभावित होना असम्भाव्य है। संभवतया राजनैतिक नैतिकता प्रतिनिधि सरकार के मताधिकार और दक्षता के निबंधनों में ही की जा सकती है—यद्यपि फिर भी यह तर्क एक अनुभव आश्रित यान की बनिस्बत एक दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक आधार पर निर्भर करता है।"

आक्षेपित संशोधन क्या नैतिक है?

204. इसके पश्चात् फिर संवैधानिक निर्वचन प्रतिबंधों पर विचार करते हुए कानफलीक्ट्स ऑफ लॉ एण्ड मोरेलिटी, 1987 अंक, पृष्ठ 338 पर केंट ग्रीनवाल्ट ने निम्नलिखित मत अभिव्यक्त किया थाः—

"साधारण विधान की तरह अधिकारों को संरक्षित करने वाले संवैधानिक उपबंध उनके नैतिक निर्णयों को अभिव्यक्त करते हैं जिन्होंने उन्हें अपनाया था, इस मामले में यह ऐसे जटिल निर्णय की कतिपय कार्यकलापों को सरकार की राजनैतिक शाखाओं द्वारा नियंत्रण की सीमा से परे रखे जाने चाहिएं। यद्यपि हमारे संघीय संविधान में कोई बात प्रतिरक्षा में बलप्रयोग को शासित करने वाली दांडिक विधि के नियम को तुलनात्मक रूप के ठीक स्थान देने के सदृश नहीं है। यह तथ्य कि संविधान स्वयं नैतिक मूल्यांकनों का प्रतिनिधित्व करता है, निश्चित रूप से यह साबित नहीं करता है कि नैतिक मूल्यांकन उनका भी कार्य है जिन्हें यह विनिश्चय करना चाहिए कि क्या स्टेट्यूट्स और उनका प्रयोग किया जाना संवैधानिक निर्बन्धनों के बाहर आता है।

निर्वचन के कुछ अन्य तरीकों की यथार्थता पर व्यापक सहमति हैं। यह प्रश्न कार्यवाही करने के लिए अत्यन्त स्पष्ट है कि संविधान की भाषा, निर्माताओं का आशय और पूर्ववर्ती न्यायालयों के विनिश्चय पूर्ण रूप से संवैधानिक संरक्षण के क्षेत्र के भीतर रखे गए हैं। इन कार्यवाहियों के लिए उसे आधुनिक न्यायालय किसी विवादास्पद नैतिक मूल्यांकन में व्यक्त होने की आवश्यकता शायद ही समझे। सामान्यतः यह साधारण विधि लागू करेगा, शायद यह अवधारण करने के पश्चात् कि कोई भी जबर्दस्त तर्क इन शक्तिशाली स्रोतों के संकेतों के प्रतिकूल नहीं किया गया है। अधिक कठिन मामलों के लिए भी न्यायिक अर्थान्वियन साधारण नैतिक मूल्यांकन नहीं है, शाब्दिक भाषा की विवक्षताएं, निर्माताओं का आशय और उद्धरण किन्हीं बातों

के लिए जरूरी होते हैं, यदि वे किसी एक या दूसरी दिशा के प्रति संकेत करते हैं।"

205. वैसे ही प्रभाव रखने वाला कथन मोरेलिटी पालिटिक्स एण्ड लॉ, 1988 संस्करण, पृष्ठ 129 पर किया था, जिसे नीचे दिया गया है:—

> "लोकतंत्र के दृष्टिकोण के अनुसार जो मौलिकता में निहित है, न्यायपालिका के लिए नीति के प्रभावी करने से आगे नीति बनाने का चयन करना अविधिमान्य है, यह तब तक अविधिमान्य हैं जब तक न्यायपालिका ऐसा करने के लिए विधायी और कार्यपालिका शाखा द्वारा प्राधिकृत न हो। और यह अलोकतांत्रिक न्यायपालिका के लिए संवैधानिक मामलों में लोकतांत्रिक शाखा और सरकार के अभिकर्ताओं का उन विश्वासों के आधार पर जिन्हें अनुसमर्थकों द्वारा कदापि सांविधानिक नहीं किया गया था, लोकतांत्रिक शाखा और सरकार के अभिकर्ताओं का स्वयं विरोध करना चरम सीमा तक अवैध है।"

206. अतएव यह न्यायालय आक्षेपिक संशोधन के नैतिक पहलू पर विचार नहीं कर सकता है। आक्षेपित संशोधन संसद् के माध्यम से अभिव्यक्त की गई जनता की इच्छा है।

207. पूर्वगामी विचार-विमर्श की दृष्टि से ये याचिकाएं खारिज किए जाने योग्य हैं। तदनुसार ये याचिकाएं खारिज की जाती हैं।

ता० याचिकाएं खारिज की गईं।